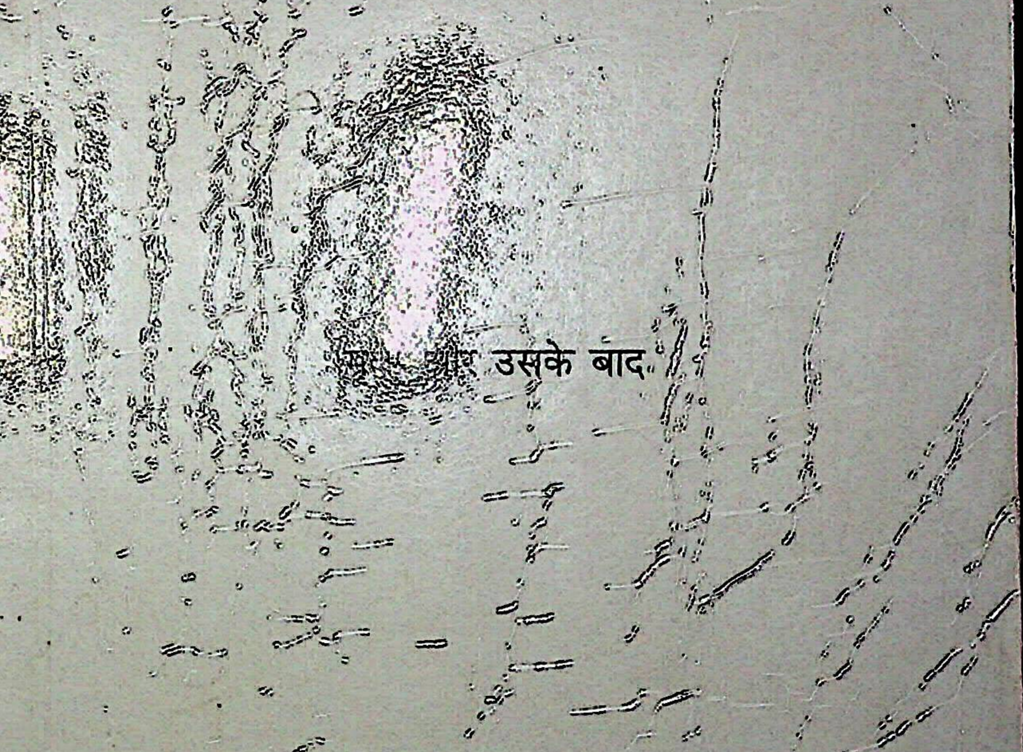
परिसंवाद

63-64



[illegible] और उसके बाद

जे. कृष्णमूर्ति प्रज्ञा परिषद्
कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया
वाराणसी

अगर आपके पास सिर्फ़ एक घंटा हो जीने के लिए तो आप क्या करेंगे? क्या आप अपने बाहरी मामलों, अपनी वसीयत आदि को नहीं निपटायेंगे? क्या आप अपने सगे-सम्बन्धियों और मित्रों को नहीं बुलाएँगे? और उनसे माफ़ी नहीं माँगेंगे या उनको माफ़ नहीं करेंगे, जाने-अनजाने अतीत में हो चुकी ग़लतियों के लिए? क्या आप अपने मन में समायी चीज़ों के प्रति, अपनी इच्छाओं-वासनाओं के प्रति और इस संसार के प्रति मर नहीं जाएँगे? और अगर यह एक घंटे के लिए किया जा सकता है तो फिर बाकी बचे दिनों, महीनों और सालों के लिए क्यों नहीं...

जे. कृष्णमूर्ति

परिसंवाद : 63-64

❑ इस अंक में : पृष्ठ संख्या

सम्पादकीय

'परिसंवाद' का यह संयुक्तांक मृत्यु के बारे में है। जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु ध्रुव है। काशी तो महाश्मशान है। मणिकर्णिका घाट पर चिता की अग्नि नित्य अहोरात्रि जलती रहती है। फिर भी शायद हम यह समझते हैं कि यह तो और हैं जो जल रहे हैं, हम नहीं। इस तरह हम अपने को भुलावा देते रहते हैं। या यह जानते हुए भी कि हम मरने वाले हैं फिर भी मृत्यु से डरते हैं। मृत्यु की यह अनबूझ पहेली है।

मृत्यु जन्म के साथ लगी हुई है। किंतु इसका स्थान, समय और कारण क्या है, यह अज्ञात है। तो क्या मृत्यु का भय इसके चलते है? लेकिन कारण जो भी हो— रोग, शोक, शारीरिक, मानसिक— लेकिन यह तो सभी जानते हैं कि हम मरने वाले हैं। यह जान कर भी हम मृत्यु से क्यों डरते हैं। क्या यह ज्ञात का भय है?

फिर, मृत्यु के बाद क्या है? क्या सब कुछ यहीं अंत हो जाता है? या पुनर्जन्म है? यह प्रश्न नचिकेता के समय से चला आ रहा है। नचिकेता यम से पूछता है कि कुछ कहते हैं मरने के बाद वह है, कुछ कहते हैं नहीं। तो मरने के बाद क्या है?

जे. कृष्णमूर्ति जीवन-पर्यन्त मृत्यु के बारे में चर्चा करते रहे हैं। मृत्यु क्या है? जीवन क्या है? हर किसी को मृत्यु के अर्थ को स्वयं खोजना है। 'परिसंवाद' का यह अंक कुछ संकेत कर सके तो ही यह सार्थक है, अन्यथा नहीं।

– सम्पादक

मृत्यु और शाश्वतता

हमें अस्तित्व के समूचे प्रश्न को, द्वन्द्व और संघर्ष के पूरे प्रश्न को गहराई से समझना होगा। आप जानते हैं जो जीवन हम जीते हैं वह कितना छिछला और अर्थहीन है। बौद्धिक लोग जीवन को अर्थ प्रदान करने का प्रयास करते हैं और हम भी जीवन के महत्त्व को खोजना चाहते हैं क्योंकि जीवन जिस ढंग से जीया जाता है वह अर्थहीन है। क्या आपको इसका कोई अर्थ दिखाई पड़ता है? अबाधित संघर्ष, हमेशा काम ही काम, कष्ट, परेशानियाँ तथा घोर परिश्रम आदि से होकर गुजरने वाला यह जीवन वास्तव में अर्थहीन है— हम केवल आदतवश इससे होकर गुजरते हैं। जीवन का अर्थ क्या है, इसे समझने के लिए हमें मृत्यु के अर्थ को भी समझना होगा। क्योंकि जीवन और मृत्यु साथ-साथ चलते हैं। दोनों सखा हैं, एक दूसरे से भिन्न नहीं।

हर किसी को मृत्यु के अर्थ को खोजना होगा, क्योंकि यह हमारे जीवन का हिस्सा है। यह दूर भविष्य की कोई वस्तु नहीं है जिससे बचा जा सके और जिसका सामना केवल बीमारी में या दुर्घटना में या बुढ़ापा आने पर या फिर युद्ध भूमि में ही किया जाए। प्रेम क्या है, यह खोजना हमारे जीवन का वैसा ही अभिन्न अंग है जैसे रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में ऐसे जीना जिसमें द्वन्द्व लेशमात्र भी न हो। मृत्यु भी हमारे अस्तित्व का एक हिस्सा है तथा इसे समझना ज़रूरी है।

हम कैसे समझ सकते हैं कि मृत्यु क्या है? जब आप मृत्यु के नज़दीक हों, अंतिम क्षण में, तब क्या आप समझ सकते हैं कि आपने जीवन को

कैसे गुजारा?— वही सारे तनाव, संवेगात्मक द्वन्द्व-संघर्ष, इच्छाएँ, महत्त्वाकांक्षाएँ आदि। आप शायद अचेतन अवस्था में हैं और यह अवस्था आपको स्पष्ट ग्रहण शक्ति के अयोग्य कर देती है। वृद्ध अवस्था में भी ऐसा ही होता है और मस्तिष्क व इससे जुड़ी वस्तुओं का क्षय होने लगता है। मृत्यु क्या है, इसे *अभी* समझना होगा, कल नहीं। आप देखेंगे कि विचार इसके बारे में सोचना नहीं चाहता। वह तो उन्हीं क्रियाकलाप के बारे में सोचता है जो इसे कल करने होंगे— नए आविष्कार, अच्छे स्नानागार और वे तमाम बातें जहाँ तक मन की दौड़ जाती है। लेकिन यह मृत्यु के बारे में कभी भी सोचना नहीं चाहता क्योंकि इसे नहीं मालूम कि मृत्यु का क्या अर्थ है।

क्या मृत्यु के अर्थ को विचारप्रक्रिया से समझना संभव है? कृपया इस खोज में भाग लें। मिलकर खोजने पर इन सब प्रश्नों में निहित बारीकी को, इसके सौन्दर्य को हम ग्रहण करने लगेंगे। लेकिन यदि आप केवल वहाँ बैठे-बैठे वक्ता के शब्दों को सुनते भर रहते हैं, तो इसका अर्थ है कि हम मिलकर सोच-विचार नहीं कर रहे हैं। एक-दूसरे के साथ मिल बाँटने का अर्थ है एक प्रकार के परवाह, ध्यान, स्नेह व प्रेम की गुणवत्ता। मृत्यु एक भयानक समस्या है। नवयुवक शायद कहें: आपको इसकी चिंता क्यों है? लेकिन यह उनके जीवन का हिस्सा है, ठीक उसी तरह जैसे ब्रह्मचर्य को समझना उनके जीवन का हिस्सा है। ऐसा न कहें, ''हम ब्रह्मचर्य की बात ही क्यों करें, वह तो पुराने रूढ़िवादियों की चीज है, वह तो मूर्ख संन्यासियों के लिए है।'' ब्रह्मचारी होना क्या है, यह प्रश्न भी मनुष्यों के लिए परेशानी का विषय रहा है; यह भी जीवन का हिस्सा है।

क्या मन पूर्ण रूप से शुद्ध, निष्कलुष हो सकता है? यह न जान पाने के कारण कि एक निष्कलुष जीवन कैसे जीया जाए, व्यक्ति ब्रह्मचर्य का व्रत लेने लगता है, और उन सारी यातनाओं से गुजरता है। यह ब्रह्मचर्य नहीं है। ब्रह्मचर्य तो इससे एकदम अलग ही चीज है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है ऐसा मन जो सभी तरह की छवियों व समस्त ज्ञान से मुक्त है; इसका अर्थ है सुख की लालसा और भय की संपूर्ण प्रक्रिया को समझना।

इसी तरह हमें मृत्यु को समझना होगा। जिस वस्तु से आप इतने भयभीत रहते हैं उसे आप कैसे समझ पाएँगे? क्या हमें मृत्यु से डर नहीं लगता? या हम कहते हैं, ''प्रभु धन्यवाद, मैं मरने जा रहा हूँ। मैंने इस दुखी जीवन को बहुत जी लिया। बहुत हो गईं एक ही ढर्रे में चलने वाले इस जीवन की मुसीबतें, भ्रांतियाँ, बेढंगापन और क्रूरता। शुक्र है प्रभु, इस सब का अंत हो जाएगा!'' यह कोई जवाब नहीं है; यह मृत्यु को बद्धिसंगत बनाना नहीं है, न ही यह पुनर्जन्म में विश्वास करना है, जैसा कि सारा एशिया का संसार करता है। यह जानने के लिए कि पुनर्जन्म अर्थात् भविष्य में दोबारा जन्म लेने का अर्थ क्या है, आपको जानना होगा कि आप *अभी* क्या हैं। यदि आप पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं, तो आप अभी क्या हैं?— बहुत सारे शब्द, बहुत सारे अनुभव, बहुत सारी जानकारियाँ, आप अनेकों संस्कृतियों के द्वारा संस्कारबद्ध हैं, आपका जीवन नाना चीजों से आपका तादात्म्य है: साजो-सामान, आपका घर, आपका बैंक खाता तथा आपके सुख-दुख के अनुभव। बस, यही सब कुछ तो हैं आप, क्या नहीं? असफलताओं की यादें, आशा-निराशा, यही सब कुछ तो आप हैं। यही सब कुछ अगले जीवन में जन्म लेने जा रहा है— क्या बढ़िया विचार है!

आप सोचते हैं कि एक चिरस्थायी आत्मा होती है, एक स्थायी वस्तु। क्या आप में कुछ भी स्थायी है? जिस क्षण आपने कहा कि एक स्थायी आत्मा है, एक स्थायी वस्तु है, तो इसका अर्थ है कि वह वस्तु आपकी सोच का परिणाम है या आपकी आशाओं का परिणाम है,क्योंकि बहुत अधिक असुरक्षा है, सब कुछ परिवर्तनशील है, निरन्तर प्रवाह में है। जब आप कहते हैं कि कोई वस्तु स्थायी है, यह स्थायीपन आपकी सोच का परिणाम है। विचार कभी भी मुक्त नहीं होते। ये चाहे जो कुछ पैदा कर सकते हैं।

अत: यदि आप पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं तो आपको जानना होगा कि भविष्य आपके वर्तमान जीवन जीने के ढंग पर निर्भर करता है— आप क्या सोचते हैं, आपके कार्य क्या हैं, आपका आचरण कैसा है, आप वर्तमान में क्या करते हैं, इस सब पर। इसलिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि आज आप क्या हैं, क्या करते हैं। लेकिन जो लोग पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं

वे वर्तमान की बातों पर ज़रा भी ध्यान नहीं देते, उनके लिए यह सिर्फ़ विश्वास की बात होती है।

अत: जब आप एक पूर्णतया स्वस्थ, ऊर्जा और चेतना से परिपूर्ण जीवन जी रहे हैं तब आप कैसे पता लगाएंगे कि मृत्यु क्या है? तब नहीं जब आप बीमार या अस्वस्थ हैं, जीवन के अंतिम क्षणों में हैं, बल्कि अभी, यह जानते हुए कि जीव अवश्य क्षय को प्राप्त होगा, किसी भी यंत्र की तरह। दुर्भाग्य की बात है कि हम अपने शारीरिक यंत्र का काफ़ी बेक़द्री से इस्तेमाल करते हैं। यह जानते हुए कि भौतिक जीव का अन्त निश्चित है, क्या आपने कभी सोचा है कि मृत्यु का अर्थ क्या है? आप इसके बारे में नहीं सोच सकते। क्या आपने यह जानने-समझने की कोशिश की है कि मनोवैज्ञानिक रूप से, आंतरिक रूप से मरना किसे कहते हैं?— अभिप्राय यह नहीं कि अनश्वरता को कैसे खोजें, कैसे पाएँ, क्योंकि नित्यता, जो कि समय से परे है, *अभी* है, दूर भविष्य में नहीं। इसके बारे में जानने के लिए काल के प्रश्न को पूर्ण रूप से समझना होगा; केवल घड़ी वाले समय को नहीं, बल्कि उस समय को जिसे विचार ने गढ़ा है, परिवर्तन की क्रमिक प्रक्रिया के रूप में।

कैसे कोई जानेगा इस रहस्यमयी घटना को जिससे हम सभी को किसी-न-किसी दिन रूबरू होना है? क्या आप आज मनोवैज्ञानिक रूप से उन सभी वस्तुओं के लिए मर सकते हैं जिन्हें आप जानते हैं? उदाहरण के लिए: सुख-लालसा के प्रति मर जाना, आसक्ति के प्रति, निर्भरता के प्रति, सभी बंधनों के प्रति मर जाना; बिना तर्क-वितर्क के, बिना युक्तिसंगत विचारों का सहारा लिये, बिना यह जानने का प्रयास किये कि इन सबसे बचने का मार्ग क्या है। क्या आप जानते हैं कि मरने का अर्थ क्या है, भौतिक रूप से नहीं, बल्कि मनोवैज्ञानिक रूप से? इसका अर्थ है निरंतरता का अंत कर देना; अपनी आकांक्षाओं का अंत करना, क्योंकि आपके मरने पर यही सब कुछ होने वाला है। आप शरीर को उठा कर नहीं ले जा सकते। आप इसके साथ जाकर ईश्वर की बगल में नहीं बैठ सकते। जब आप मरेंगे, आपको बहुत सारी बातें समाप्त करनी होंगी, बिना किसी तर्क-वितर्क के। आप

मृत्यु से यह नहीं कह सकते, ''मुझे अपना काम निपटाने दो, मुझे मेरी किताब ख़त्म करने दो, मैं ज़रा अपने बचे हुए कामों को पूरा कर लूँ, मुझे उन सभी घावों को भर लेने दो, जो मैंने दूसरों को दिए हैं''— तब आपके पास समय नहीं होगा।

तो क्या आप पता लगा सकते हैं कि एक ऐसा जीवन कैसे जिएँ— आज ही, अभी, जिसमें सदा ही उन सब चीज़ों का अंत होता जाए जिन्हें आप शुरू करते गए हैं? मेरा अभिप्राय आपके कार्यालय के काम से नहीं है, बल्कि आंतरिक स्तर पर उस सारे ज्ञान के अंत से है जिसे आपने एकत्र किया है— ज्ञान जो कि है आपका अनुभव, आपकी यादें, आपके आघात, जीवन जीने का तुलनात्मक तरीका, सदा अपनी तुलना दूसरों से करने की प्रवृत्ति इत्यादि। इन सभी जानकारियों को हर दिन समाप्त करना ताकि अगले दिन आपका मन ताजा और नया हो। ऐसा मन कभी आहत नहीं होगा, और वह हर पल निर्दोष होगा।

हर किसी को यह स्वयं पता लगाना होगा कि मृत्यु का अर्थ क्या है; फिर कोई डर नहीं है; फिर हर दिन नया दिन होगा— और मैं वास्तव में कह रहा हूँ कि ऐसा किया जा सकता है— फिर आपका मन और आपकी आँखें जीवन को बिल्कुल ही नये रूप में देखेंगी। यही शाश्वतता है। यही मन की वह गुणवत्ता है जो काल के परे है, क्योंकि इसने जान लिया है कि हर रोज़ उन सभी चीज़ों के प्रति मर जाने का, जिन्हें दिनभर में एकत्र किया गया है, क्या अर्थ है। वास्तव में, ऐसी स्थिति में ही प्रेम है। प्रेम हर दिन बिल्कुल नया होता है, परन्तु सुख-लालसा में यह गुण नहीं है— सुख-लालसा में निरंतरता होती है। प्रेम सदा नूतन होता है इसलिए इसकी अपनी ही नित्यता है।

न्यूयॉर्क
24 अप्रेल, 1971

अनुवाद: प्रकृति सचदेव

मृत्यु का सौन्दर्य

वसन्त ऋतु की एक ख़ूबसूरत सुबह। एक सीधी सड़क पर चलते हुए। आसमान में असाधारण नीलिमा है। एक भी बादल नहीं हैं, सूरज में बस थोड़ी गर्माहट है। सुखद लग रहा था। पत्तियाँ चमक रही थीं, हवा में भी एक चमक थी। सचमुच यह एक बहुत ही अद्‌भुत सुबह थी, बहुत ही ख़ूबसूरत। ऊँचा और दुर्गम पहाड़ वहीं मौजूद था। निचली पहाड़ियाँ हरी और सुन्दर दिख रही थीं। आप निःशब्द उस रास्ते पर चले जा रहे थे, बिना अधिक विचार के। आपके सामने पतझड़ में गिरी एक मृत पत्ती आती है। रंग पीला और सुर्ख लाल था। कितनी ख़ूबसूरत लग रही थी वह पत्ती— अपनी मृत्यु में इतनी सरल और इतनी जीवन्त ! ऐसा लग रहा था मानो पूरे ग्रीष्म की, उस पूरे पेड़ की जीवंतता और सुन्दरता उसमें समा गई हो। आश्चर्य था कि यह मुरझाई नहीं थी। और पास जाने पर इसकी संरचना व आकृति स्पष्ट दिखाई दे रही थी। नसें व डंठल साफ़ झलक रहे थे। वह पत्ती संपूर्ण वृक्ष थी।

ऐसा क्यों है कि मनुष्य इतनी दयनीयता के साथ मरता है? इतना दुखी होकर, इतनी कुरूपता के साथ, बुढ़ापे, मुरझाए-जर्जर शरीर व दिमाग़ के साथ? वह इस पत्ती की भांति सहजता व ख़ूबसूरती से क्यों नहीं मर पाता? क्या कमी है हम मनुष्यों में? इतने सारे चिकित्सकों, अस्पतालों और दवाइयों के बावजूद, आपरेशन और जीवन की सारी वेदना-व्यथा के बावजूद हम लोग गरिमा, सरलता और मुस्कान के साथ मृत्यु का वरण करते क्यों नहीं दिखते?

एक बार एक गली से गुजरते हुए पीछे मंत्रोच्चार का स्वर सुनाई दिया। स्वर लयबद्ध और मधुर था, उसमें संस्कृत का प्राचीन पुट था। हम रुक गए और पीछे देखने लगे। सबसे बड़ा बेटा अपने मृत पिता की अर्थी के आगे चल रहा था। उसने कमर से ऊपर कुछ नहीं पहना था। उसके हाथ में एक छोटी-सी हँडिया थी जिसमें आग जल रही थी। इस हँडिया को उसने किसी दूसरे पात्र में रखकर पकड़ा था। सभी लोग मंत्रोच्चार कर रहे थे। उस मंत्रोच्चार से मैं परिचित था और मैं लगभग उनमें शामिल हो गया। वे लोग सामने से गुजरे और मैं उनके पीछे चलने लगा। बड़े बेटे की आँखों में आँसू थे। पिता को नदी के किनारे ले जाया गया जहाँ लकड़ी का बड़ा-सा ढेर पहले से तैयार था। मृत देह को उसके ऊपर रख दिया गया और अग्नि दे दी गयी। यह सब कुछ कितना प्राकृतिक था, कितना सरल—कोई फूल नहीं, शववाहन नहीं, काले रथ के साथ काले घोड़े नहीं। यह सब अत्यन्त शान्त और गरिमापूर्ण था।

उस पत्ती की तरफ़ दृष्टि जाती है और साथ-ही उस पेड़ की हज़ारों पत्तियों की तरफ़। शरद् ऋतु ने उस पत्ती को उसकी माँ से अलग कर पथ पर ला दिया था। अब यह पूरी तरह सूखकर मुरझा जाएगी, हवाएँ उसको बहा ले जाएंगी और यह न जाने कहाँ खो जाएगी।

जिस तरह बच्चों को लिखना-पढ़ना व गणित जैसे विषय सिखाए जाते हैं, जानकारियाँ इकट्ठी करने का सारा कारोबार सिखाया जाता है, वैसे ही उन्हें मृत्यु की महानता व गरिमा के बारे में सिखाया जाना चाहिए। उन्हें यह सिखाया जाना चाहिए कि मृत्यु कोई भयावही, दुख से भरी घटना नहीं है जिसका आख़िर में सामना करना पड़ता है, बल्कि यह दैनिक जीवन का हिस्सा है, उसी तरह जैसे नीले आसमान को देखना, घास पर बैठे टिड्डे को देखना जीवन का हिस्सा है। मृत्यु को समझना हमारे सीखने में शामिल है, उसी प्रकार जैसे दाँतों का आना और बचपन की बीमारियों का सामना करना। बच्चों में असाधारण जिज्ञासा होती है। यदि आप मृत्यु के स्वरूप को गहराई से समझते हैं तो बच्चों को यह बताने के लिए आपको उसके बहुत अधिक वर्णन में जाने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी, बल्कि आहिस्ता-आहिस्ता

बिना कोई भय पैदा किये आप उन्हें समझाएंगे और यह महसूस कराएंगे कि जीवन और मृत्यु एक हैं, तथा मृत्यु कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो केवल व्यक्ति के जीवन के अन्त में, यानी पचास, साठ या नब्बे साल बाद आती है। मृत्यु तो उस पत्ती की भाँति है। लेकिन उन वृद्ध स्त्री-पुरुषों की तरफ़ देखिए, कितने जर्जर हो जाते हैं वे लोग, कितने खोए-खोए, उदास और कुरूप दिखते हैं वे लोग। क्या इसका कारण यह है कि उन्होंने वास्तव में न जीवन को गहराई से समझा है, न मृत्यु को? उन्होंने अपने जीवन का उपभोग भर किया है, उन्होंने अपने जीवन को बर्बाद किया है उन अन्तहीन संघर्षों में जो केवल स्व, अहं और 'मैं' पर ही केंद्रित होते हैं और उन्हें ही मज़बूत करते हैं। छोटी-मोटी खुशियों की तलाश के अलावा हम अपने दिन नाना प्रकार के संघर्षों और दुखों में ही गुजार देते हैं— मदिरा, धूम्रपान, देर रात तक जागना और काम, बस यही होता हमारा जीवन। और जब जीवन के अन्त में मृत्यु का सामना होता है तो हम एकाएक भयभीत हो उठते हैं। मुझे लगता है कि मृत्यु को हमेशा गहराई से समझा और महसूस किया जा सकता है। बच्चों में जिज्ञासा होती है और हम उनकी यह समझने में मदद कर सकते हैं कि मृत्यु के मायने केवल देह का किसी बीमारी, दुर्घटना या बुढ़ापे में नष्ट होना नहीं है बल्कि प्रत्येक दिन के अन्त के साथ *स्वयं का भी हर दिन अन्त होना है।*

दोबारा जन्म जैसा कुछ नहीं होता, यह अन्धविश्वास है। इस ख़ूबसूरत धरती पर हर चीज़ जीती है और मरती है, पैदा होती है और समाप्त होती है। जीवन की इस पूरी गति को समझने के लिए प्रज्ञा की ज़रूरत है, उस प्रज्ञा की जो विचार, ज्ञान और पुस्तकों पर आधारित नहीं है बल्कि जो प्रेम और करुणा की संवेदना से उपजती है। मुझे पूरा यकीन है कि अगर शिक्षक मृत्यु के अर्थ और उसकी गरिमा को, उसमें निहित असाधारण सरलता को गहराई से— न कि बौद्धिक रूप से— समझते हैं तो वे बच्चों को भी यह बात समझाने में समर्थ हो सकते हैं कि मृत्यु कोई भय पैदा करने वाली चीज़ नहीं है जिससे बचकर रहा जाए, वरन् यह तो हमारे समूचे जीवन का हिस्सा है। इस तरह जब बच्चा बड़ा होगा तो वह मृत्यु से कभी भयभीत

नहीं रहेगा। यदि हमसे पहले के सारे मानव और हमारे पूर्वज अभी भी जीवित होते तो इस पृथ्वी की क्या दशा होती, इसकी कल्पना की जा सकती है। शुरुआत अन्त नहीं है।

शिक्षा में मृत्यु के विषय को इस तरह लाना होगा कि यह एक वास्तविकता, एक हक़ीक़त बने, और ऐसा न महसूस हो कि मृत्यु किसी और की होनी है बल्कि हममें से प्रत्येक को इसका सामना करना है चाहे हम छोटे हों या बड़े। यह कोई आँसू बहाने, अकेलेपन या अलगाव का दुखद विषय नहीं है। जबकि दूसरी तरफ़ हम कितनी आसानी से जीवित प्राणियों की जान तक ले लेते हैं। यहाँ तक कि केवल अपने भोजन के लिए ही जानवरों को नहीं मारते, मनोविनोद के लिए, खेल-खेल में भी बड़ी संख्या में उनकी जान लेते हैं। हिरनों को मारा जाता है, सिर्फ़ इसलिए कि इसका मौसम है! एक हिरन को मारना अपने पड़ौसी की जान लेने से ज़रा भी कम नहीं है। आप जानवरों की जान लेते हैं क्योंकि आपका प्रकृति से, धरती की किसी भी जीवित चीज़ से कोई रिश्ता ही नहीं रह गया है। आप युद्धों में मनुष्यों की जान लेते हैं सिर्फ़ इसलिए कि आपके पास तमाम तरह की रूमानी, राष्ट्रवादी और राजनैतिक विचारधाराएँ हैं। ईश्वर के नाम पर आपने लोगों की जान ली है। हिंसा और जान लेना एक साथ चलते रहे हैं।

उस मृत पत्ती को देखकर, उसके रंगों और समस्त सौन्दर्य को महसूस करते हुए संभवतः हम स्वयं अपनी मृत्यु को, जीवन के आखिर में नहीं बल्कि जीवन की शुरुआत में ही, बहुत गहराई से समझ सकते हैं। मृत्यु कोई डरावनी घटना नहीं है जिससे बचकर रहा जाए या जिसे हमेशा सुदूर भविष्य में रखा जाए, वरन् यह तो प्रतिदिन साथ रहने वाली चीज़ है। और इसी के साथ निःसीमता का एक असाधारण बोध होता है।

कृष्णमूर्ति टु हिमसेल्फ़ अनुवादः मुकेश

ओहाय, कैलीफोर्निया, 30 मार्च, 1984

मृत्यु और जीवन साथ-साथ

मृत्यु क्या है, क्या हम यह पता लगा सकते हैं, अपनी सारी विचारधाराओं और निष्कर्षों को एक तरफ रखते हुए? वह क्या चीज़ है जो मरती है? हम यह भी देखते हैं कि यदि कोई चीज़ निरन्तर चल रही है तो वह यांत्रिक हो जाती है। जबकि कोई चीज़ अगर समाप्त होती है तो एक नयी शुरुआत होती है। और अगर हम भयभीत हैं तो उस विराट चीज़ का पता नहीं लगा पाएंगे जिसे मृत्यु कहते हैं। वह अवश्य ही कोई अत्यन्त अद्‌भुत चीज़ होगी। मृत्यु के अर्थ को समझने के लिए यह पता लगाना भी आवश्यक है कि *मृत्यु के पूर्व हमारा जीवन क्या है।* और यह हम कभी नहीं करते। हम कभी पता नहीं लगाते कि जीना किसे कहते हैं। क्या है जीना? मृत्यु तो अवश्य होगी, यह तय है— किन्तु जीना क्या है? ये सारे दुख-कष्ट, भय, चिन्ता और पीड़ा, क्या यही जीना है? इन सबसे बँधकर हमारा जीवन मृत्यु के भय की छाया में ही बीतता है। यदि हमें यह नहीं पता कि जीना क्या है तो हम यह भी नहीं जान पाएँगे कि मृत्यु क्या है। दोनों ही साथ-साथ चलते हैं। जीने के समूचे अभिप्राय को, जीवन की समग्रता को यदि हम गहराई से समझ सकें तो हम मृत्यु के पूरे अर्थ को भी समझ लेंगे। लेकिन होता क्या है कि हम जीवन के अर्थ की गहराई में गये बग़ैर मृत्यु के अर्थ की छानबीन करने लग जाते हैं।

वैसे भी जब जीवन के अर्थ का सवाल उठाया जाता है तो हम तुरन्त अपने-अपने निष्कर्ष देने लगते हैं। हम कहते हैं जीवन यह है, जीवन वह है। अपने-अपने प्रशिक्षण, संस्कार के अनुसार हम जीवन पर अपना अर्थ मढ़ते हैं। किसी आदर्शवादी के लिए जीवन का एक अपना ही अर्थ होता है और यह उसकी शिक्षा, पढ़ाई और संस्कारबद्धता का ही परिणाम होता है। इसके विपरीत यदि हम जीवन को अलग से अपना कोई अर्थ नहीं देते, और यह नहीं कहते कि जीवन यह है या वह है, तब हम स्वतंत्र होते हैं—

हर प्रकार की विचारधाराओं और तंत्रों से जो राजनैतिक, धार्मिक या सामाजिक कुछ भी हो सकती है। अत:, मृत्यु के अर्थ की छानबीन करने से पूर्व हम यह पूछ रहे हैं कि जीना क्या है? जिस जीवन को हम जीते हैं क्या वह जीना है? लगातार एक-दूसरे से संघर्ष, मारा-मारी? एक-दूसरे को समझने-समझाने की जद्दोजहद? क्या यही जीवन है? क्या किसी किताब, किसी मनोवैज्ञानिक या किसी रूढ़ि के अनुसार जीना, जीना है?

और यदि हम इस सबको एक तरफ हटा दें, पूर्णतया नकार दें तब हमारी शुरुआत वास्तविकता से होती है, 'जो है' से होती है। क्या है वास्तविकता? वास्तविकता यह है कि हमारा जीना एक भयंकर यातना बन चुका है, एक भयावह संग्राम, जो मनुष्यों के बीच, स्त्री-पुरुषों के बीच छिड़ा हुआ है, चाहे वे निकट के हों या दूर के। हमारा जीना एक संघर्ष है जिसमें हमें कभी-कभार ही नीले आसमान को निहारने, किसी सुन्दर और ख़ूबसूरत चीज़ को देखने और उसका आनन्द लेते हुए कुछ क्षणों के लिए निश्चिंत होने की आज़ादी मिलती है। लेकिन कुछ क्षण बीतते-न-बीतते फिर संघर्ष के बादल घिर आते हैं। और यही सब है जिसे हम जीना कहते हैं; चर्च जाना, मन्दिर जाना, पुरानी या नयी परम्पराओं को दोहरा देना, कुछ सिद्धांतों और विचारधाराओं को पकड़े रखना, आदि। यही है जिसको हम जीना कहते हैं और इससे हम इतने बँध जाते हैं कि इसको चुपचाप स्वीकार करे रहते हैं। लेकिन इसके साथ ही एक दूसरी चीज़ भी है जिसे *असन्तुष्टि* कहते हैं और जिसका अपना महत्त्व है— एक सच्ची असन्तुष्टि। असन्तुष्टि एक ज्वाला है लेकिन हम अपनी बचकाना हरकतों और क्षणिक सन्तुष्टियों से इसे दबा देते हैं। लेकिन जब आप असन्तुष्टि को स्वत: विकसित एवं पुष्पित होने के लिए छोड़ देते हैं तो वह उन सारी चीज़ों को जला डालती है जो सत्य नहीं है।

क्या हम एक ऐसा जीवन जी सकते हैं जो समग्र हो, खंडित न हो?— एक ऐसा जीवन जिसमें विचार ने परिवार का, कार्यालय का, चर्च का, तथा इसका और उसका विभाजन खड़ा न किया हो, और जहाँ मृत्यु को सबसे इतना अलग-थलग काटकर न रखा गया हो कि जब वह आए तो हम भय और दहशत से भर जाएँ और हमारा दिमाग़ एकदम जड़-सा

होकर उसका सामना करने की क्षमता ही खो दे, क्योंकि जीवन को हमने समग्रता से कभी जिया ही नहीं।

मृत्यु आएगी, और जब यह आएगी तो हम उसके साथ बहस नहीं कर पाएंगे, हम यह नहीं कह सकेंगे कि 'अभी कुछ देर और ठहरो'— यह बस आ जाएगी। इसलिए क्या हमारा मन उसी समय, जबकि हम जीवित और ऊर्जा से भरे हुए हैं, इस मृत्यु का, हर चीज़ के अन्त का सामना कर सकता है? यदि हमने अपना जीवन संघर्षों और चिन्ताओं में बर्बाद नहीं किया है तो हम ऊर्जा और स्पष्टता से भरे होंगे। मृत्यु का अर्थ है उन सारी चीज़ों का अन्त जिन्हें हम जानते हैं— यानी, अपनी सारी आसक्तियों, बैंक खातों और उपलब्धियों का अन्त— अर्थात् पूर्ण विराम। क्या हमारा मन इस शरीर के जीते-जी ऐसा कर सकता है? इसके बाद ही हम मृत्यु के पूर्ण अर्थ को समझ पाएंगे। जब तक हम 'मैं' के विचार से चिपके रहते हैं— उस 'मैं' के जिसके बारे में हमारा विश्वास है कि उसे कभी ख़त्म नहीं होना चाहिए— तब तक हम कभी नहीं समझ पाएंगे कि जीवन में मृत्यु का क्या अर्थ है। यह वही 'मैं' है जिसे विचार पैदा करता है, जो उच्चतर चेतना आदि में विश्वास करता है।

विचार ज्ञात के क्षेत्र में रहता है; यह ज्ञात से ही पैदा होता है। यदि हम ज्ञात के बन्धन से मुक्त नहीं हैं तो हम मृत्यु के अर्थ का भी पता नहीं लगा पाएंगे— मृत्यु यानी हर चीज़ का अन्त, उस शरीर का अन्त जिसमें हमारी सारी आदतों का वास है; तथा शरीर और नाम के साथ हमारी समस्त पहचान का अन्त और इसके साथ ही सारी स्मृतियों और यादों का अन्त। जब मृत्यु का आगमन होगा तो इसमें से किसी भी चीज़ को हम अपने साथ नहीं ले जा पाएंगे। हम अपनी सारी धन-संपदा को भी साथ नहीं ले जा पाएंगे। अतः हमें अपने जीवन में हर उस चीज़ का अन्त करना होगा जिसे हम जानते हैं। जिसका अर्थ होगा निपट *एकाकीपन*- अकेलापन नहीं, बल्कि एकाकीपन, अर्थात् एकमात्र उस अवस्था का शेष रह जाना जहाँ मन पूर्ण रूप से समग्र है। एकाकीपन, यानी सब कुछ एक।

होलनेस ऑफ़ लाइफ़ अनुवादः मुकेश

अध्याय तेरह

जीते-जी मृत्यु के घर में प्रवेश

पुपुल जयकर (पु.) : कृष्णजी मैं समझती हूँ कि मानव-मन की बहुत गहराई में जो अनेक प्रश्न उठा करते हैं, उनमें से एक प्रश्न 'अस्तित्व-ग्रहण करने के लिए जन्म लेने' और 'अस्तित्वरहित हो जाने' के संबंध में है। जीवन और मृत्यु। मनुष्य का पूरा जीवन जन्म के विस्मय और मृत्यु के भय के इर्द-गिर्द घूमता है। उसकी सारी उत्कट-प्रवृत्तियाँ, आवश्यकताएँ, उसकी इच्छाएँ, उसके भय और उसकी व्याकुलताएँ इन दो सिरों के बीच, जन्म एवम् मृत्यु के मध्य अवस्थित होती हैं। एक सामान्य-धरातल पर हम किसी रूप में जन्म तथा मृत्यु को समझते तो हैं, पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी समझ का यह रूप, मात्र सतही हुआ करता है। और जब तक इन दो-सिरों के मध्य स्थित जीवन की इस संपूर्ण-समस्या को—किसी भी वस्तु के अंत (ending) से संबंधित इस संपूर्ण-समस्या को हम गहराई से नहीं समझ लेते, तब तक इस 'अंत' शब्द को घेरने वाले भय, व्याकुलता और अज्ञान, और उनकी अंधकारपूर्ण-छायाएँ हमारा पीछा नहीं छोड़ सकते।

जे. कृष्णमूर्ति (कृ.) : आप 'समस्या' शब्द का प्रयोग क्यों कर रही हैं? जन्म तथा मृत्यु के बीच के उस अंतराल को आप समस्या क्यों बना रही हैं?

पु. : अपने-आपमें तो जन्म और मृत्यु मात्र तथ्य हैं, पर मन उन्हें वैसा नहीं रहने देता। मन एक से तो बँधता है पर दूसरे की उपेक्षा करता है।

कृ. : आप 'समस्या' शब्द का प्रयोग क्यों कर रही हैं?

पु. : जिन छायाओं ने 'अंत' शब्द को चारों तरफ से घेर रखा है उनके

ही कारण यह एक 'समस्या' है। जिसे हम जीवन के रूप में देखते हैं उसमें उल्लास तथा शोभा की अनुभूति होना और किसी भी कीमत पर उसे प्राप्त करने की चेष्टा, तथा जिसे 'अंत' कहा जाता है उस सबसे बचते रहने का यत्न चलता रहता है। यह एक समस्या है। इससे ही भय, दुख, सारी अपेक्षाएँ आदि उत्पन्न होते हैं।

कृ. : तो इस बारे में आपका प्रश्न क्या है?

पु. : हमें अन्वेषण की दिशा में कैसे कार्य करना होगा? इस शब्द के चारों ओर घिरे अंधकार से हम कैसे मुक्त हो सकते हैं? मृत्यु को हमारे मन सरलतापूर्वक देख सकें और मृत्यु वस्तुत: जो-कुछ है उसका उसी रूप में निरीक्षण कर सकें, यह कैसे हो?

कृ. : आप सचमुच मृत्यु पर विचार कर रही हैं या आप जीवन और मृत्यु के बीच की दीर्घ-अवधि के बारे में पड़ताल कर रही हैं? तात्पर्य यह, कि आप जिसे अंत कह रही हैं, क्या उस पर चिंतन करते समय आप जीवन जीने की संपूर्ण प्रक्रिया को—उसकी सारी जटिलताओं-सहित क्लेश, संशय आदि सबको शामिल कर रही हैं? मृत्यु का क्या अर्थ है और संघर्ष, द्वन्द्व, क्लेश आदि की लम्बी-प्रक्रिया, जिससे हम केवल इसलिए चिपके रहते हैं कि उसे टाला जा सके, क्या इस ओर भी आपका ध्यान है? इसकी संपूर्ण-प्रक्रिया की ओर भी आपकी गंभीर-दृष्टि है?

पु. : देखिए, सृष्टि की समूची गतिविधि में जीवन और मृत्यु का भी स्थान है, परंतु यदि आप विषय को इतने अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखेंगे तो मुझे नहीं लगता कि आप अंत से जुड़ी व्यथा और दुख की तह तक जा पाएँगे। और मैं चाहती हूँ कि अंत से जुड़े दुख के संबंध में जाँच-पड़ताल करूँ।

कृ. : आप अंत से जुड़े दुख के संबंध में खोज-बीन करने में उत्सुक हैं, या आप जीवन जीने और मरने की उस सम्पूर्ण प्रक्रिया के बारे में अन्वेषण कर रही हैं, जिसमें दुख, भय और ऐसी अन्य सब बातें भी सम्मिलित हैं?

पु. : इस एक ही वाक्य में कही गई आपकी बात बिल्कुल ठीक है—जिसे अस्तित्व कहते हैं वह जीवन-जीने तथा मरने की ही एक सम्पूर्ण

गतिविधि है। आप दुख के अंत के बारे में कह रहे हैं; जबकि मैं उस भय, उस व्यथा के बारे में कह रही हूँ जिसका संबंध 'अंत' होने के दुख से है।

कृ. : हाँ, ठीक।

पु. : उन दोनों में सूक्ष्म अंतर है। एक दुख, एक व्यथा तो यह है कि 'कुछ, जो कि है' मिटने जा रहा है... कुछ है, जो कि ऐसा अद्‌भुत है, जो कि इतना सुन्दर है, कि अपने जीवन को परिपूर्ण बना देता है, तो दूसरी ओर यह विचार भी इसकी पृष्ठभूमि में रेंगता रहता है कि इसे भी समाप्त होना है।

कृ. : 'समाप्त-होना' क्या है?

पु. : समाप्त-होना वह प्रक्रिया है जिसमें कोई वस्तु जो वर्तमान में है बाद में अपना अस्तित्व खो देगी; फिर कभी यह हमारे लिए इन्द्रियगम्य नहीं होगी।

कृ. : आपकी बात मैं ठीक से नहीं समझ सका।

पु. : मान्यवर, कोई वस्तु है और उसके 'होने' की यही विशिष्ट-प्रकृति है कि होने में ही उसके मिट जाने की आशंका भी छिपी है; यह आशंका कि वह वस्तु सदा-सदा के लिए खो जानेवाली है।

कृ. : आप 'सदा-सदा' के लिए क्यों कह रही हैं?

पु. : क्योंकि इस प्रकार के मिट-जाने की निश्चयात्मकता संदेह से परे की होती है। इसमें भावी-कल कहीं नहीं रह जाता।

कृ. : अच्छा, एक मिनट के लिए रुकिए— मिटना किसका?...

पु. : मिटना उसका जो कि वर्तमान में है। दुख इस बात का होता है कि इतनी मुग्धकारी वस्तु मिट जाने वाली है।

कृ. : क्या यह सचमुच इतनी अधिक मुग्धकारी है?

पु. : अच्छा, मुझे अनुमति दें तो मैं अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष उदाहरण सामने रखूँ। आप हैं। आप नहीं रहेंगे, यह ख़याल अत्यंत विक्षुब्ध कर देता है। *आप हैं।*

कृ. : 'आप हैं', से आपका क्या अभिप्राय है?

पु. : 'के.' [जे. कृष्णमूर्ति] हैं। इस वक्तव्य—'के.' हैं— में 'के.' के मिट जाने की, न रह जाने की वेदना भी समाविष्ट है।

कृ. : मृत्यु तो अटल है। यह व्यक्ति 'के.' किसी दिन अवश्य ही मिटनेवाला है। उसकी दृष्टि में इसका कोई महत्त्व नहीं है; न तो भय है, न क्षोभ है। पर आप उस व्यक्ति को देखती हैं और कह उठती हैं, 'हे भगवान् वह मर जानेवाला है।' अत:, आपने जिस शब्द का प्रयोग किया यदि उसे मैं कहूँ, तो यही आपकी वेदना है। पर क्यों?

पु. : यह है...

कृ. : क्यों?

पु. : आप 'क्यों' किसलिए पूछते हैं?

कृ. : किसी की मृत्यु होती है। मैं उसके साथ रहा हूँ, उस व्यक्ति से मुझे प्रेम था। वह मर जाता है और मैं विमूढ़ हो जाता हूँ। क्यों? मैं भयावह-रूप से विकल क्यों हो उठता हूँ— हताशा और अकेलेपन की दशा में क्यों हो जाता हूँ? मेरी आँखों से आँसू क्यों झरने लगते हैं, मैं वेदनाग्रस्त क्यों हो जाता हूँ? मैं दुखग्रस्त क्यों होता हूँ? हम केवल बौद्धिक-धरातल पर चर्चा नहीं कर रहे हैं—हम कहीं अधिक गंभीरता से यह बातचीत कर रहे हैं। मैंने उस व्यक्ति को खो दिया है। वह मुझे प्रिय था; वह मेरा साथी था। वह समाप्त हो चुका है। मैं सोचता हूँ कि समाप्ति को समझा जाना सचमुच महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि किसी भी वस्तु की समाप्ति में किसी सर्वथा नयी वस्तु का आगमन है।

पु. : इसलिए मैंने कहा था कि इसमें 'क्यों' का प्रश्न ही नहीं उठता।

कृ. : 'क्यों' का प्रश्न तो महज़ खोज को आगे बढ़ाने की दृष्टि से किया जा रहा है।

पु. : मेरा दुख— क्या यह दुख होना अपरिहार्य बात नहीं है? वह व्यक्ति मेरे जीवन की सुगंध था।

कृ. : हाँ, मुझे उससे प्रेम था। यौन-संबंधों में वह मेरा साथी था और

उसके कारण मैं परितृप्ति का अनुभव करता था; मैं परितुष्टि पाता था। और वह, वह व्यक्ति समाप्त हो चुका है।

पु. : क्या यह दुख नहीं है?

कृ. : हाँ, है। मेरे पुत्र अथवा भाई की मृत्यु होती है। यह एक भयानक दुख तो है। मैं अश्रु बहाता हूँ। मैं उद्वेग से भर जाता हूँ। अत: अब मेरा मन कहने लगता है: मुझे यह विचार कर सान्त्वना पा लेना उचित है कि अपने अगले-जन्म में मैं उससे पुन: मिल सकूँगा। मैं यह पूछ रहा हूँ : मनुष्य दुख के उस बोझ को क्यों ढोता है? मैं जानता हूँ कि किसी की मृत्यु दुखद होती है; मैं जानता हूँ कि यह अत्यंत ध्वंसकारी होती है। इससे मानों मेरा सारा अस्तित्व ही तहस-नहस हो जाता है। किसी सुन्दर वृक्ष के एकाएक ही टूट कर गिर जाने, उसे पल-भर में काटकर गिरा दिये-जाने जैसी बात है यह।

मैं दुखग्रस्त इसलिए होता हूँ क्योंकि वास्तव में मैंने कभी गहराईपूर्वक यह समझने की चेष्टा नहीं की कि समाप्त होना क्या है। मैं चालीस, पचास, या अस्सी वर्षों तक जीता रहा, पर उस सारी-अवधि में मैंने कभी यह नहीं जाना कि समाप्ति का अर्थ क्या है— किसी ऐसी वस्तु को, जिसे मैं अत्यंत प्रिय समझता हूँ, समाप्त हो जाने देने का क्या तात्पर्य है। मैंने विश्वास को कभी पूर्ण रूप से समाप्त नहीं किया, आसक्ति को कभी पूरी तरह से मिटने नहीं दिया— इन्हें इस प्रकार से कभी समाप्त नहीं कर दिया कि यह किसी अन्य-रूप में जारी ही न रह सकें।

पु. : अंत-कर-देने के लिए मन असमर्थ क्यों रहता है?

कृ. : भय ही इसे असमर्थ बना देता है। हम एक बहुत साधारण उदाहरण देखें,— एक ऐसा उदाहरण हम लें जो सबमें एक-सा पाया जाता है— आसक्ति का उदाहरण। क्या यह संभव है कि किसी भी प्रेरणा अथवा ध्येय को न रखते हुए, कोई इसकी सारी जटिलता और सारे निहितार्थों के साथ, आसक्ति का अंत कर सके? क्या ऐसा संभव है कि हमें किसी भी वस्तु से— अपने अनुभव, ज्ञान, स्मृति— किसी से भी आसक्ति न रहे? वैसे भी ज्ञान की समाप्ति— *मृत्यु आने पर तो होने ही वाली है*। ज्ञान ही तो वह वस्तु

है जिससे मनुष्य चिपका रहता है। उस व्यक्ति का ज्ञान जिससे मेरा लगाव था, जिसकी मैंने देखभाल की थी और जिसके साथ जीवन गुजारा था। सौन्दर्य की स्मृति और उससे जुड़ा द्वन्द्व, ये दोनों इसमें विद्यमान हैं। अब उस सबकी स्मृति की पूर्णरूप से समाप्ति कर देना, यही मृत्यु है।

पु. : आपने प्राय: कहा है : 'जीते-जी मृत्यु के घर में प्रवेश करिए।'

कृ. : हाँ। मैंने यह किया है।

पु. : इसका ठीक-ठीक क्या आशय है?

कृ. : 'जीवित रहते हुए ही मृत्यु को निमंत्रित करना', इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि आप कोई गोली खाकर आत्महत्या कर लें। मुझे लगता है कि जीवन जीते हुए ही मृत्यु को निमंत्रित करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मैंने यह किया है।

देखिए, 'अंत' शब्द में एक गहन अर्थगर्भिता है। मान लीजिए कोई ऐसी वस्तु है, किसी अनुभव की स्मृति है—जिससे मुझे बेहद लगाव है, जिसे मैं इसलिए सँजो रखता हूँ कि इसने मुझे परम-उल्लास, गहराई की भावना तथा बहुत-अच्छा लगने का एहसास दिया। मैं उस स्मृति को छोड़ता नहीं। मैं अपने ऑफिस जाता हूँ, मैं कार्य भी करता हूँ, लेकिन यह स्मृति असामान्य-रूप से प्रबल है और इतनी जीवंत है कि मैं इसे छोड़ना ही नहीं चाहता; फलत: मैं इसे जानने का कभी यत्न ही नहीं करता कि अंत-करने का क्या तात्पर्य है। मैं समझता हूँ कि हर दिन, मनोवैज्ञानिक-रूप से मनुष्य जो कुछ एकत्र करता है, उसका अंत करने में ही सार है।

पु. : आसक्ति का अंत किया जा सकता है।

कृ. : यही मृत्यु है।

पु. : यह मृत्यु नहीं है।

कृ. : आप मृत्यु किसे कहेंगी? दैहिक-प्रणाली के अंत को आप मृत्यु कहेंगी? या आपके बारे में मैंने जो प्रतिमा निर्मित कर रखी है उसके मिटने को मृत्यु कहेंगी?

पु. : यदि आप इसका अर्थ इतनी ही सीमा तक रखते हैं तो मैं कहूँगी कि उस प्रतिमा का मिटना ही मृत्यु है; लेकिन उसका अर्थ इससे कहीं अधिक है।

कृ. : अवश्य है। मैं आपके साथ जिया हूँ, मेरी आपसे अत्यंत प्रीति थी और आपकी प्रतिमा मुझमें गहराई तक जड़ें जमाए हुए है। आपकी मृत्यु हो जाती है और यह प्रतिमा और अधिक शक्तिशाली हो जाती है। तब यह स्वाभाविक ही है कि इस प्रतिमा की समाधि पर मैं पुष्प चढ़ाता हूँ; काव्यांजलि अर्पित करता हूँ। पर यह तो प्रतिमा ही है जो कि जी रही होती है। जब तक किसी भी वस्तु की स्मृति की छाया भी बीच में है तब तक मन के लिए यह संभव नहीं कि वह सर्वथा नये आयाम में प्रवेश कर पाए। क्योंकि वह 'अन्य' काल-रहित है। वह दूसरा आयाम शाश्वत है और यदि मन को उसमें प्रवेश करना है तो इसके लिए मन के भीतर काल के तत्त्व का अंश-मात्र भी शेष न रहना चाहिए। मैं सोचता हूँ कि यह तर्कसिद्ध एवम् युक्तिसंगत है।

पु. : परंतु जीवन तर्कसिद्ध वस्तु नहीं है, युक्तिसंगत वस्तु नहीं है।

कृ. : इसमें कोई संदेह नहीं है। जो नित्य है— जो काल से रहित है— उसे समझने-हेतु मन को उस सबसे पूर्णतः मुक्त हो जाना होगा जिसे मानसिक-धरातल पर, अर्थात् काल के धरातल पर एकत्रित किया गया है। इसीलिए अंत आवश्यक है।

पु. : तो अंत के बारे में कोई अन्वेषण नहीं हो सकता ?

कृ. : अवश्य हो सकता है।

पु. : क्या है वह अन्वेषण?

कृ. : अंत क्या है— सातत्य का अंत? किसी विशिष्ट-विचार का, विशिष्ट-ध्येय का, किसी विशिष्ट-कामना के सातत्य का अंत— ये ही तो जीवन को निरंतरता प्रदान करते हैं। जन्म एवम् मृत्यु— उस सुदीर्घ-अवधि में किसी नदी जैसी प्रगाढ़-निरंतरता होती है। जल की मात्रा— गंगा, राइन या एमेज़ॉन की तरह किसी नदी को भव्य बना देती है— और हम नदी की सुन्दरता को नहीं देख पाते। आप समझ सकते हैं कि हम जीवन-रूपी

विशाल-सरिता की सतह पर रहते हैं, और हम इसका सौन्दर्य इसीलिए नहीं देख सकते क्योंकि हम सदैव इसकी सतह पर ही बने रहते हैं। और अंत का अर्थ है, इस सतह का मिटना।

पु. : सतह का मिटना ही अंत है।

कृ. : जी हाँ, सतह की समाप्ति ही।

पु. : और मृत्यु किसकी है?

कृ. : उस सबकी, जिसे मैंने बाह्य एवम् आंतरिक इन दोनों तलों पर संचित कर रखा है। मैं परिष्कृत रुचियों वाला हूँ, और मैंने अपना एक सुचारु-व्यवसाय स्थापित कर रखा है, जिससे मुझे बढ़िया आमदनी हो रही है—एक अच्छा घर, अच्छी पत्नी, अच्छे बच्चे और अच्छा-सा बगीचा, ये सब मेरे पास हैं। और मेरे जीवन ने इन-सबको सातत्य प्रदान कर रखा है। इस सबका अंत-हो-जाना।

पु. : महोदय, यदि आपकी अनुमति हो तो मैं इस बारे में कुछ और खोजबीन करूँ? क्या आप मुझसे यह कह रहे हैं कि 'के.' की देह की मृत्यु घटित होते ही 'के.' की चेतना का भी अंत हो जाएगा? इस बारे में मेरा प्रबल अनुरोध है, कृपया बतलाएँ।

कृ. : आपने दो बातें कहीं : 'के.' की चेतना, और देह का अंत होना। देह तो दुर्घटना या रोग आदि से समाप्त होगी ही। यह तो स्पष्ट ही है। उस व्यक्ति की चतेना क्या है?

पु. : विशाल, अनंत, चिरंतन-करुणा ही वह चेतना है।

कृ. : हाँ। मैं उसे चेतना नहीं कहूँगा।

पु. : 'चेतना' शब्द का प्रयोग मैं इसलिए कर रही हूँ क्योंकि यह 'के.' की देह से संबद्ध वस्तु है। मैं इसके स्थान पर किसी अन्य शब्द का प्रयोग नहीं कर पा रही हूँ। शायद मैं 'के. का मन' कह सकती थी।

कृ. : अच्छा, हम 'चेतना' शब्द से ही काम चलने दें, यदि आपको इसमें ऐतराज न हो, और अब हम इस बारे में ध्यान दें। मानव-चेतना, स्वयं

अपनी-ही अंतर्वस्तु होती है। विचार की सम्पूर्ण गतिविधि, यही चेतना की अन्तर्वस्तु है। भाषा, विशेषज्ञता, मत, रीति-रिवाज़, कर्मकाण्ड, पीड़ा, अकेलापन, हताशा और भय की भावना—यह सभी विचार की गतिविधि है। जैसे ही विचार की गतिविधि समाप्त हो जाती है, तो जिसे हम चेतना की तरह जानते हैं, वैसी कोई वस्तु नहीं रह जाती।

पु. : परंतु चेतना के अन्तर्गत एक गतिविधि की तरह होनेवाला विचार—जैसा कि हम जानते हैं— 'के.' के मन में वह नहीं होता। परंतु फिर भी जब मैं उनके सम्पर्क में होती हूँ तो एक वस्तु वहाँ अवश्य ही अपने-आप को अभिव्यक्त कर रही होती है जिसकी विद्यमानता प्रत्यक्ष होती है। यह विद्यमानता उस स्थिति में भी अपनी अभिव्यक्ति करती है जब आप इसे विचार के रूप में नहीं देखते।

कृ. : नहीं, ऐसा नहीं है। किसी भी वस्तु की ओर संकेत करते समय हमें अत्यंत सतर्क होना चाहिए। जिसे हम चेतना के रूप में जानते हैं वह विचार की गतिविधि ही होती है; यह काल की गतिविधि ही होती है।

पु. : जी हाँ।

कृ. : इसे अत्यंत स्पष्टता से देख लें। जिसे हम चेतना की तरह से जानते हैं वह विचार की गतिविधि होती है। अतएव, अन्वेषण के पश्चात् जब विचार की समाप्ति हो जाती है— भौतिक-जगत् में नहीं, बल्कि मानसिक-जगत् में—तो जिसे हम चेतना की तरह जानते हैं— ऐसी कोई वस्तु शेष नहीं होती।

पु. : महोदय, इसके लिए आप भले ही कोई दूसरा शब्द प्रयोग करें पर विद्यमानता की एक दशा अवश्य ही है जो अपने-आपको 'के.' की तरह अभिव्यक्त करती है।

कृ. : हाँ; आप बिलकुल ठीक कह रही हैं।

पु. : इसके लिए मैं कौन-सा शब्द प्रयुक्त करूँ?

कृ. : मैं आपसे आपके शब्दों को बदलने का अनुरोध नहीं कर रहा, बल्कि हम ऐसा कह सकते हैं, उदाहरण के लिए कि ध्यान के द्वारा—वास्तविक

ध्यान के माध्यम से, न कि ध्यान के नाम पर प्रचलित विभिन्न मूढ़तापूर्ण गतिविधियों से—आप एक ऐसे बिन्दु पर आ जाते हैं जो परम-रूप से अंतिम है। और आप ऐसा कहती हैं।

पु. : जी हाँ।

कृ. : और मैं इसे देखता हूँ। मैं इसकी अनुभूति पाता हूँ। मेरे लिए यह एक सर्वाधिक असाधारण-दशा है। आपके माध्यम से, आपसे होनेवाले मेरे सम्पर्क के माध्यम से, मैं इस गूढ़ता की अनुभूति पाता हूँ। और मेरी सारी उत्कण्ठा, सारी लगन कहती है कि मैं इसे पा लूँ। पर यह आपके पास है—पर इसका यह अर्थ नहीं कि यह *आपका,* पुपुल का है। यह है। यह न तो आपका है न मेरा; यह केवल है।

पु. : पर इसका होना आपके ही कारण है।

कृ. : इसका होना मेरे कारण *नहीं* है। यह बस है।

पु. : कहाँ है?

कृ. : इसका कोई स्थान नहीं है।

पु. : आपकी बात को मैं एक सीमा तक ही स्वीकार कर सकती हूँ।

कृ. : ठीक है... सबसे पहली बात, यह आपका अथवा मेरा नहीं है।

पु. : मैं केवल इतना जानती हूँ कि यह 'के.' के व्यक्तित्व में प्रकट है। अत: आपकी यह बात कि इसका कोई स्थान-विशेष नहीं है, मैं स्वीकार नहीं कर पाती।

कृ. : ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि आपने उसकी पहचान 'के' के रूप में बना ली है।

पु.: परंतु 'के.' वह है।

कृ. : जरा धैर्य रखें... शायद ऐसा हो। पर 'के.' कहता है कि इसका 'के.' अथवा किसी भी अन्य व्यक्ति से कोई संबंध नहीं है। यह है। सौन्दर्य आपका अथवा मेरा नहीं है। यह है। किसी वृक्ष में, किसी फूल में—यह है।

पु. : परंतु मान्यवर, जो निवारण-क्षमता 'के.' में है, वह वहाँ पर

नहीं है।

कृ. : अवश्य ही नहीं है। यह वहाँ पर नहीं है।

पु. : मैं 'के.' की उपचारक-क्षमता और करुणा के बारे में कह रही हूँ।

कृ. : परंतु वह 'के.' नहीं है। वह यह नहीं है। (अपने शरीर की ओर इशारा करते हुए ।)

पु. : परंतु किसी समय, इस प्रकार से इसकी अभिव्यक्ति होना भी समाप्त हो जाएगा; मैं इसी विषय में कह रही हूँ, इस बारे में पता लगा रही हूँ।

कृ. : हाँ मैं समझ रहा हूँ, मैं समझ गया। आप जो कहना चाह रही हैं उसे मैं अवश्य ही समझता हूँ। उस पर मुझे शंका है।

पु. : 'शंका है' से आपका क्या अभिप्राय है?

कृ. : यह किसी अन्य माध्यम से, 'एक्स' कहें उसे, तो 'एक्स' के माध्यम से अभिव्यक्त हो सकती है। जिसकी अभिव्यक्ति हुई है या जो अपने-आप को प्रकट कर रहा है उसका संबंध 'एक्स' से नहीं है। इसका 'एक्स' से कोई लेना-देना नहीं है। इसका 'के.' से कोई लेना-देना नहीं है।

पु. : मैं यह भी स्वीकार करने को राजी हूँ कि वह 'के.' से संबंधित नहीं है। परंतु 'के.' एवम् 'वह' अविभाज्य हैं।

कृ. : बिलकुल ठीक है, पर जब आप 'उस' चीज़ को किसी व्यक्ति के साथ जोड़ती हैं, तो स्थिति अत्यंत नाजुक हो जाती है।

पु. : मैं चर्चा को धीरे-धीरे आगे बढ़ाना चाहती हूँ। बुद्ध का उदाहरण देखें। बुद्ध-चेतना नामक वस्तु जो कुछ भी थी, या उनके माध्यम से जो कुछ भी अभिव्यक्त हो रहा था वह अब खो चुका है।

कृ. : मुझे इस पर ऐतराज है, मुझे इस पर संदेह है। हमें अत्यंत सावधान रहना होगा। आप कहती हैं कि बुद्ध के विदा हो जाने के पश्चात् बुद्ध की चेतना खो गई, ठीक है? यह उनके माध्यम से अभिव्यक्त हुई थी और वे ही 'वह' थे एवम् आप कहती हैं कि उनकी मृत्यु होने पर 'वह' खो गई।

पु. : मुझे इसका ज्ञान नही है कि 'वह' खो गई; मैं बस यह कहती हूँ

कि उनके उपरान्त उससे सम्पर्क नहीं किया जा सका।

कृ. : स्वाभाविक है कि नहीं।

पु. : इसे आप स्वाभाविक क्यों कहते हैं?

कृ. : क्योंकि उन्होंने ध्यान किया था, और इससे जुड़ी अन्य बातें की थीं। उन्हें प्रकाश मिला था, बोध प्राप्ति हुई थी और वे इस तक पहुँचे। अतएव उनके एवम् 'उस' के मध्य कोई विभाजन नहीं था। मैं, जो कि उनका एक शिष्य हूँ, कहता हूँ, 'अरे, वे मर चुके हैं और उनकी मृत्यु के ही साथ सब-कुछ समाप्त हो चुका है।'

पु. : जी हाँ, यह समाप्त हो चुका।

कृ. : मैं कहता हूँ कि समाप्त नहीं हुआ। *वह जो कि शुभ है, कभी समाप्त नहीं हो सकता।* जिस प्रकार से अशुभ (हालांकि इस शब्द के बारे में अत्यंत अस्पष्टता और अनिश्चय व्याप्त है, पर मैं उसका प्रयोग यहाँ कर रहा हूँ) संसार में सदैव बना रहता है, ठीक है? जो शुभ है, अशुभ उससे सर्वथा भिन्न वस्तु है। शुभ का अस्तित्व है और सदा से रहा है, पर अशुभ के विपरीत की तरह से नहीं। अशुभ स्वयं अपने से चलता रहा है।

पु. : पर हम विषय से दूर जा रहे हैं।

कृ. : मुझे नहीं मालूम, पर इसकी चिन्ता न करें, कृपया आगे कहें।

पु. : आप कहते हैं कि यह समाप्त नहीं होता।

कृ. : शुभ कभी समाप्त नहीं हो सकता।

पु. : मैं उस महान् प्रज्ञा को उपलब्ध करुणा की बात कर रही हूँ। इस समय मैं उससे सम्पर्क कर सकती हूँ।

कृ. : परंतु यदि वह व्यक्ति न भी हो तो भी आप उससे सम्पर्क कर सकती हैं। इसका किसी ख़ास व्यक्ति से कोई संबंध नहीं है।

पु. : अपने लिए अपना-प्रकाश स्वयं ही बनने के बारे में आप जो कहते हैं क्या उसका संबंध व्यक्ति के अनुपस्थित होते हुए ही 'उस' से संपर्क करने से है? जब आप कहते हैं कि व्यक्ति के न होते हुए भी 'उस' से संपर्क

हो सकता है?...

कृ. : 'संपर्क' नहीं होता। इसका बोध होता है, इसे जिया जाता है; यह है और आपको इस तक जाना और ग्रहण कर लेना है। इस तक पहुँचने और इसे प्राप्त कर लेने हेतु यह आवश्यक है कि विचार, या जिसे हम चेतना की तरह से जानते हैं उसका अन्त हो चुका हो, क्योंकि *विचार वस्तुत: उसका शत्रु* है। विचार करुणा का शत्रु है, यह स्पष्ट ही है—ठीक? और उस ज्योति की उपलब्धि के लिए किसी महान् त्याग की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि एक जागृत प्रज्ञा की आवश्यकता होती है, ऐसी प्रज्ञा जो विचार की गतिविधि को देख सके। और विचार की गतिविधि की सजगता ही उसका अन्त कर देती है। वास्तविक ध्यान यही है।

पु. : इस स्थिति में मृत्यु कितना महत्त्व रखती है?

कृ. : कोई महत्त्व नहीं रखती। इसका कुछ अर्थ नहीं रह जाता क्योंकि वैसे भी आप सारे-समय मृत्यु के साथ जी रहे होते हैं। इसका कोई महत्त्व नहीं रह जाता क्योंकि आप हर-एक वस्तु का सदैव अन्त कर रहे होते हैं । मुझे नहीं लगता कि हम अन्त करने के महत्त्व और सौन्दर्य को देख पाते हैं। हम सातत्य को, उसकी सुन्दरता की तरंगों और उसकी सारी सतही-बातों सहित देखते रहते हैं।

पु. : कल मुझे यहाँ से चले जाना है। क्या मैं अपने-आपको आपसे पूर्णत: अलग कर लूँगी?

कृ. : नहीं, मुझसे नहीं; आप अपने-आपको 'उस' से अलग कर लेंगी। आप उसकी समस्त करुणा-सहित उस शाश्वतता से स्वयं को अलग कर लेंगी।

यह सरल-सी बात है। मैं बुद्ध से मिलता हूँ। मैं बहुत सावधानी और ध्यानपूर्वक उनकी वाणी सुनता हूँ। वे मुझे अत्यंत गहन-रूप से प्रभावित कर देते हैं और इसके पश्चात् वे चले जाते हैं। पर उनकी वाणी में जो सत्य उन्होंने कहा वह चिरंतन है। उन्होंने मुझसे कहा, अत्यंत गंभीरतापूर्वक कहा, 'अपना प्रकाश स्वयं ही बनो ताकि सत्य तुम में है यह बोध तुम्हें हो।' यह वह बीज

है जो मुझ में खिलने लगता है। वे चले जाते हैं, पर बीज का प्रस्फुटन जारी है। और शायद मैं कहने लगूँ, 'मुझे उनकी अनुपस्थिति कचोटती है, मुझे दुख है कि मैंने एक ऐसा मनुष्य खो दिया, जो मेरा मित्र था या जिसे मैं सचमुच बहुत प्यार करता था।' पर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सत्य का बीज खिलेगा। जिस बीज को मेरी जागरूकता, सावधानी और गहन-श्रवण ने बोया था वह बीज खिलेगा। यदि ऐसा नहीं होता तो इसका क्या महत्त्व रहता है कि किसी के पास यह है? यदि 'एक्स' के पास प्रज्ञा का यह असाधारण-बोध है— इस शब्द को मैं गहन करुणा, प्रेम आदि अर्थों में प्रयोग कर रहा हूँ— और सिर्फ उसके ही पास यह है, और उसकी मृत्यु हो जाती है, तब क्या होता है?

पु. : क्या मैं आपसे एक प्रश्न कर सकती हूँ? कृपया बताएँ। यदि ऐसा है तो उसके होने का क्या औचित्य है?

कृ. : उसके अस्तित्व में होने का, उसकी विद्यमानता का औचित्य क्या है? यही कि 'उस' की अभिव्यक्ति हो सके; 'उसे' एक साकार-रूप प्राप्त हो सके। पर किसी औचित्य की आवश्यकता ही कहाँ है? किसी फूल के होने में कोई औचित्य नहीं हुआ करता। सौन्दर्य का औचित्य नहीं होता; इसका अस्तित्व होता है। और यदि इसका औचित्य ढूँढ़ने लगें तो फूल खो जाता है। मैं इस पर रहस्य का पर्दा नहीं डाल रहा हूँ, जैसा मैंने कहा, यह है और जो-कोई भी चाहे, इस तक पहुँच सकता है और पा सकता है।

इसीलिए पुपुल, मृत्यु भी जन्म जैसी ही एक अप्रतिम घटना है। पर जन्म एवम् मृत्यु एक-दूसरे से कितनी दूरी पर होते हैं। निरंतरता-रूपी यंत्रणा ही मनुष्य की पीड़ा है। और यदि प्रतिदिन इस निरंतरता की समाप्ति होती रहे, तो आप मृत्यु के संग जी रहे होंगे। यह पूर्ण रूप से पुन: नया होना है; अर्थात् किसी ऐसी वस्तु का पुन: नवीन होना जिसमें निरंतरता न हो। और इसीलिए, जिसे अनुभव किया गया है, या अनुभव जो कि मन में स्मृति की तरह शेष रह जाता है, उसके पूर्ण अवसान के अर्थ को समझा जाना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

यदि हमारे पास अभी समय हो तो क्या हम इस प्रश्न पर विचार कर सकते हैं कि क्या साँसारिक-विषयों के ज्ञान के अतिरिक्त, मनुष्य काल और

ज्ञान के बिना भी जी सकता है?

पु. : अब तक हमने जो-कुछ कहा, अर्थात् हर वस्तु का निरंतर अंत-करते हुए जीना, क्या यही इस प्रश्न की भी मूल-प्रकृति नहीं है? आशय यह है कि जब मन अंत-करते हुए जीने का सामर्थ्य जुटा लेता है तब यह काल और ज्ञान का भी अंत-करते हुए जी सकने में समर्थ हो जाता है।

कृ. : हाँ, पर यह भी संभव है कि यह सब मात्र शब्द बनकर ही रह जाए।

पु. : जी नहीं मान्यवर, इस मामले में सबसे बड़ी बात यही है कि आप इसके लिए कुछ भी नहीं कर सकते, पर आप ध्यानपूर्वक श्रवण और निरीक्षण अवश्य कर सकते हैं— अन्य कुछ नहीं किया जा सकता।

कृ. : कृपया आगे कहें।

पु. : अंततः होनेवाली मृत्यु का सामना कर सकें— क्या आपके विचार में इसके लिए मन में किसी प्रकार का सीखना संभव है।

कृ. : यहाँ सीखने-हेतु है ही क्या पुपुल? सीखने के लिए कुछ है ही नहीं।

पु. : मन को चाहिए कि वह व्यग्रता-शून्य होकर उसे ग्रहण करे।

कृ. : हाँ।

पु. : इस प्रकार के वक्तव्य को मन धैर्यपूर्वक सुने। तब संभवतः, जब अंततः मृत्यु का आगमन होगा, उस समय मन क्षोभरहित बना रहेगा।

कृ. : हाँ, यह सही है। और मृत्यु में इसीलिए एक अप्रतिम सौन्दर्य हुआ करता है, एक असाधारण जीवंतता होती है।

फ़ायर इन द माइंड अनुवाद : विनय कुमार वैद्य
'ए डायलॉग ऑन दैथ' से

मृत्यु और उसके बाद

जे. कृष्णमूर्ति (कृ.): कुछ दिन हुए सिडनी फ़ील्ड मुझसे मिलने आए। उनके भाई जॉन की अभी हाल में मृत्यु हुई है। आप उन्हें जानते ही हैं। उनकी बड़ी इच्छा थी यह जानने की कि क्या उनका भाई अब एक भिन्न चेतना में है, क्या उसका दूसरा जन्म हुआ है। और क्या मैं पुनर्जन्म में विश्वास करता हूँ, तथा उसका अर्थ क्या है। इस प्रकार उनके पास बहुत सारे प्रश्न थे और वे एक कठिन दौर से गुजर रहे थे। भाई को वे चाहते थे। हम लोग भी उनके भाई को वर्षों से जानते थे। तो, उस बातचीत में से दो चीज़ें निकल कर आईं। पहली चीज़, क्या कोई चिरस्थायी अहम् है? यदि कोई ऐसी चीज़ है जो स्थायी है तो उसका वर्तमान और भविष्य से क्या संबंध है? भविष्य, यानी दूसरा जन्म या दस साल बाद। पर यदि आप यह मानते या स्वीकार करते हैं या आग्रहपूर्वक कहते हैं कि चिरस्थायी अहम् जैसी कोई चीज़ है तो पुनर्जन्म...

एलन नॉडे (ए.) : ...अनिवार्य है।

कृ. : अनिवार्य नहीं। मैं नहीं कहूँगा कि अनिवार्य है। हाँ, यह हो सकता है; क्योंकि मैं समझता हूँ कि स्थायी अहम्— यदि वह स्थायी है— तो वह दस साल में परिवर्तित हो सकता है, या दूसरे रूप में जन्म ले सकता है।

ए. : भारतीय धर्मग्रन्थों में हमें यह हमेशा पढ़ने को मिलता है। हम उन बच्चों के बारे में पढ़ते हैं जिन्हें पिछले जन्म का स्मरण है; एक बच्ची है जो कहती है कि मैं यहाँ क्या कर रही हूँ मेरा घर तो किसी और गाँव

में है, मैं तो शादीशुदा हूँ, आदि-आदि। और मेरा विश्वास है कि कई घटनाओं में इसको सही पाया गया है।

कृ. : मुझे नहीं पता। तो, यदि कोई स्थाई सत्ता नहीं है तब पुनर्जन्म क्या है? दोनों ही में काल शामिल है, दोनों का ही अर्थ है आकाश ('स्पेश') में गति। आकाश से मतलब है पर्यावरण, सम्बन्ध, दबाव और वे सारी चीज़ें जो दिक्-काल में आती हैं।

ए. : जो काल और अस्थाई परिस्थितियों के अन्तर्गत आती हैं...

कृ. : संस्कृति इत्यादि के अन्तर्गत ...

ए. : किसी तरह की सामाजिक संरचना के।

कृ. : तो क्या कोई स्थाई 'मैं' है? स्पष्ट है कि नहीं। लेकिन सिडनी का कहना था, "तब वह क्या चीज़ है जो मैं महसूस करता हूँ, कि जॉन मेरे साथ है? जब मैं उसके कमरे में घुसता हूँ तो मुझे लगता है वह वहाँ है। मैं अपने को मूर्ख नहीं बना रहा हूँ, कल्पना नहीं कर रहा हूँ। मैं उसको उसी तरह वहाँ महसूस करता हूँ जैसे मैं अपनी बहन को, जो कल उस कमरे में थी। यह उतना ही साफ़ और सुनिश्चित है।"

ए. : लेकिन जब आप यह कहते हैं कि—"स्पष्ट है कि नहीं"—क्या आप इसे थोड़ा समझाएँगे?

कृ. : लेकिन अभी थोड़ा रुकिए। तो सिडनी कह रहे थे कि 'मेरा भाई वहाँ है'। मैंने कहा, वह बिल्कुल वहाँ है। क्योंकि पहली बात है कि जॉन से आपका जुड़ाव है, उसकी यादें हैं आपके पास, और वे ही प्रक्षेपित होती हैं। यह प्रक्षेपण आपकी स्मृति ही है।

ए. : तो वह जॉन जो आपके भीतर था वह वहाँ मौजूद है।

कृ. : और जब जॉन जीवित था तो वह आपसे जुड़ा हुआ था। उसकी मौजूदगी आपके साथ है। जब वह जीवित था तो हो सकता है कि आप उसे सारे समय नहीं देखते हों, पर उसकी मौजूदगी उस कमरे में रहती थी।

ए. : उसकी मौजूदगी वहाँ रहती थी, और शायद इसे ही लोग 'ऑरा' (आभामंडल) कहते हैं।

कृ. : नहीं, 'ऑरा' दूसरी चीज़ है। अभी उसे बीच में न लाएँ।

मेरी ज़िम्बालिस्ट : जब आप कहते हैं कि जॉन उस कमरे में था, चाहे जीवित या मृत, तो क्या वहाँ कोई ऐसी चीज़ है जो उससे या उसकी बहन के बाहर की है, या यह उनकी चेतना में ही है?

कृ. : वह चेतना में भी है और चेतना के बाहर भी। मैं अपने भाई के बारे में कल्पना कर सकता हूँ और कह सकता हूँ कि पिछली रात वह मेरे साथ था, यह महसूस करते हुए कि वह मेरे साथ था— वह मेरे अन्दर से प्रकट हो सकता है। अथवा, दस दिन पहले मर चुके जॉन का वातावरण, उसके विचार, तौर-तरीके अभी भी वहाँ हो सकते हैं, हालाँकि वह शारीरिक रूप से अब नहीं है।

ए. : अर्थात् मानसिक संवेग।

कृ. : शरीर की ऊष्मा।

मेरी. : क्या आप कह रहे हैं कि यह एक प्रकार की ऊर्जा है—या कोई और शब्द प्रयोग करें—जो मनुष्यों से निकलती है?

कृ. : कार पार्क करने की जगह का एक फोटो खींचा गया था जहाँ कुछ देर पहले बहुत-सी कारें खड़ी थीं। उस फोटों में पहले खड़ी कारों की छायाएँ आ गई थीं।

ए. : हाँ, मैंने भी देखा है।

कृ. : यानी, कारों ने जो ऊष्मा छोड़ी थी वह निगेटिव पर आ गई थी।

ए. : और एक बात है। पहली बार ग्स्टाड में जब मैं आपका मेहमान बना था, ला केप्रिस में हम लोग ठहरे हुए थे। आप हम लोगों से पहले अमेरिका के लिए रवाना हो गये। मैं आपके फ्लैट में गया और मैंने आपको सजीव रूप में महसूस किया। आपकी मौजूदगी वहाँ बहुत ही सघन रूप से थी।

कृ. : हाँ, यही बात है।

ए. : आपकी मौजूदगी का एहसास इतना शक्तिशाली था कि ऐसा

लगा कि आपको स्पर्श किया जा सकता है।

कृ. : इस प्रकार तीन संभावनाएँ बनती हैं। मैं अपनी याददाश्त और चेतना के द्वारा प्रक्षेपण कर रहा हूँ, अथवा जॉन की बची हुई ऊर्जा को पकड़ रहा हूँ।

ए. : एक ठहरी हुई गन्ध की तरह।

कृ. : जॉन का विचार या जॉन का अस्तित्व अभी भी वहाँ है।

ए. : यह तीसरी संभावना है।

मेरी. : जॉन के अस्तित्व से आपका मतलब है?

ए. : यानी जॉन वास्तव में वहाँ मौजूद है जैसे मृत्यु के पहले था।

कृ. : मैं एक कमरे में कई वर्ष गुजारता हूँ। कमरे के वातावरण में मेरी ऊर्जा, मेरे विचार, मेरी भावनाएँ सब समायी हुई हैं।

ए. : उसमें उसकी अपनी ऊर्जा समायी रहती है। जब हम किसी नये घर में जाते हैं तो जो व्यक्ति उसमें पहले रहा था उससे मुक्त होने में कुछ समय लगता है—हालाँकि उस व्यक्ति को आप जानते भी न हों।

कृ. : तो ये तीन संभावनाएँ हैं। एक अन्य संभावना है जॉन के विचार, क्योंकि जॉन जीवन से चिपका हुआ था। जॉन की इच्छाएँ हवा में मौजूद हैं।

ए. : अमूर्त रूप से।

कृ. : हाँ, ठीक विचार की भाँति वे वहाँ मौजूद हैं।

ए. : क्या इसका यह मतलब है कि जॉन चेतन अवस्था में है और एक ऐसी सत्ता जिसे अपने होने का पता है अपने को जॉन कह रही है और विचार कर रही है।

कृ. : मुझे सन्देह है।

ए. : मैं समझता हूँ जो पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं उनकी यही धारणा होती है।

कृ. : देखिए क्या होता है—इससे चार संभावनाएँ पैदा होती हैं।

और यह विचार कि जॉन, जिसका शरीर जा चुका है, विचारों में जीवित है।

ए. : उसके अपने विचारों में या किसी और के विचारों में।

कृ. : उसके अपने विचारों में।

ए. : विचार करने वाली सत्ता के रूप में?

कृ. : विचार करने वाली सत्ता के रूप में?

ए. : एक चेतन वस्तु के रूप में।

कृ. : ध्याद दें, यह बड़ा दिलचस्प है : इसका अर्थ है कि जॉन का अस्तित्व बना हुआ है क्योंकि वह अभद्रता का, लोभ का, ईर्ष्या का, नशा और स्पर्धा का संसार है। यह मनुष्य का सामान्य ढाँचा है। यह जारी रहता है और जॉन की पहचान उससे की जा सकती है, या कहा जा सकता है कि वही सब कुछ जॉन है।

ए. : वे इच्छाएँ, विचार, धारणाएँ और संबंध ही जॉन है।

कृ. : जिनका संबंध संसार से है।

ए. : जो बार-बार पैदा होती हैं और भौतिक हैं।

कृ. : जो कि संसार है—जो कि हर व्यक्ति है।

ए. : आप एक बहुत बड़ी चीज़ कह रहे हैं। अच्छा होगा अगर आप इसे थोड़ा और समझाएँ। आप कहते हैं कि जॉन का अस्तित्व इसलिए बना रहता है क्योंकि उसके अन्दर सामान्यता, निम्नता या औसतपन भी बना रहता है। यहाँ सामान्यता का मतलब है सांसारिक, भौतिक चीज़ों से संबंध।

कृ. : ठीक कहा आपने। जैसे, भय, सत्ता या पद की आकांक्षा।

ए. : अलग से कुछ होने की इच्छा।

कृ. : संसार का यह सामान्य चलन है, वह उस संसार से जुड़ा हुआ है और संसार पुनः-पुनः पैदा होता है।

ए. : आप कहते हैं कि संसार का पुनर्जन्म होता है।

कृ. : जनसामान्य को देखें। वे सभी इस प्रवाह में फँसे हुए हैं और यह प्रवाह चलता जाता है। मेरा एक बेटा है जो इस प्रवाह का हिस्सा है और इसी प्रवाह में जॉन भी है जो एक मनुष्य के रूप में इसमें फँसा हुआ है। मेरे बेटे में जॉन की कुछ प्रवृत्तियाँ आ सकती हैं।

ए. : ओह, अब आप कुछ भिन्न चीज़ कह रहे हैं।

कृ. : हाँ।

ए. : आप कह रहे हैं कि जिन-जिन लोगों में जॉन की यादें शेष हैं उन सब में जॉन बसा रहता है। उस तरह से जॉन का अस्तित्व अवश्य रहता है। मुझे अपने एक मित्र की याद है जिसकी मृत्यु हुए अधिक समय नहीं हुआ था। मुझे अच्छी तरह याद है कि वह उन सब लोगों की यादों में ख़ूब अच्छी तरह जीवित था जो उसे चाहते थे।

कृ. : बिल्कुल ऐसा ही है।

ए. : इसलिए वह संसार से गया नहीं था, वह अभी भी घटनाओं के उसी प्रवाह में मौजूद था जिसे हम संसार कहते हैं, जो कि उन सभी लोगों की ज़िन्दगी है जिन्होंने उससे संबंध बनाया था। उस अर्थ में शायद वह हमेशा जीवित रह सकता है।

कृ. : जब तक कि वह उससे अलग नहीं हो जाता, उस प्रवाह से बाहर नहीं निकल जाता। जब तक मैं जनसामान्य से मुक्त नहीं हो जाता—यहाँ जनसामान्य का अभिप्राय है लोभ, ईर्ष्या, शक्ति, पद, घृणा, लालसाएँ आदि—तब तक मैं मनुष्य की समस्त सामान्यता ('वलगैरिटी') का प्रतिनिधित्व करता रहूँगा।

ए. : जी हाँ, सामान्य के पीछे चलते हुए मैं स्वयं वही बनकर रह जाऊँगा, और वास्तव में उसी में जन्म लेता रहूँगा, उसे ही जीवन देता रहूँगा।

कृ. : इस तरह मैं उस सामान्यता में बार-बार जन्म लेता रहूँगा। जैसे, पहले मैं अपने भाई जॉन की कल्पना करूँगा।

ए. : अपने विचार, कल्पनाशक्ति या याददाश्त के द्वारा। अथवा, उसकी

गतिज ऊर्जा को पकड़ूंगा जो कि अभी भी आसपास मौजूद है।

कृ. : उसकी गंध, पसन्द या बोलने का ढंग।

ए. : डेस्क पर पड़ा हुआ अधजला स्मोकिंग पाइप या अधूरा ख़त आदि।

कृ. : वह सभी कुछ।

ए. : वे फूल जो उसने बगीचे से चुने।

कृ. : तीसरी चीज़, उसके विचार कमरे में मौजूद रहते हैं।

ए. : विचार कमरे में मौजूद रहते हैं?

कृ. : उसके मनोभाव...

ए. : ऐसा कहा जा सकता है, कि उसकी गतिज ऊर्जा का मनोवैज्ञानिक समतुल्य।

कृ. : हाँ।

ए. : उसके विचार लगभग भौतिक गन्ध की तरह मौजूद रहते हैं। कुछ-कुछ दैहिक गन्ध की तरह।

कृ. : ठीक कहा आपने।

ए. : जैसे एक पुराना कोट आपने टाँग दिया हो वैसे ही विचार की ऊर्जा बनी रहती है।

कृ. : विचार, संकल्प की ऊर्जा—यदि उसका कोई दृढ़ संकल्प रहा हो; सक्रिय लालसाएँ और विचार, ये सभी बचे रहते हैं।

ए. : पर यह तीसरे बिन्दु से अलग नहीं है। तीसरा बिन्दु था कि विचार, जो कि इच्छाएँ और लालसाएँ हैं, बचा रहता है।

कृ. : चौथा बिन्दु सामान्यता का प्रवाह है।

ए. : यह बहुत स्पष्ट नहीं है।

कृ. : देखिए श्रीमान्, मैं एक सामान्य, औसत ज़िन्दगी जीता हूँ, लाखों-करोड़ों लोगों की तरह।

ए. : हाँ, अपने लक्ष्यों के पीछे भागते हुए, आशाओं और भयों में जीते हुए।

कृ. : मैं साधारण ढर्रे की ज़िन्दगी जीता हूँ। कुछ सुसंस्कृत, कुछ ऊँचे या निचले स्तर की, लेकिन उसी धारा के किनारे-किनारे, पीछे-पीछे चलते हुए। मैं ही वह धारा हूँ। अहं, जो कि वह धारा है उसी प्रवाह में बहते जाने के लिए बाध्य है। यह प्रवाह 'मैं' का ही है। मैं बाकी लाखों लोगों से भिन्न नहीं हूँ।

ए. : इसलिए आप कह रहे हैं कि मृत्यु के बाद भी मैं बना रहता हूँ क्योंकि वे चीज़ें जिनसे मैं संयुक्त था या जो मैं स्वयं था वे अभी बनी हुई हैं, जारी हैं।

कृ. : मनुष्य में।

ए. : इसलिए मैं जीवित रहता हूँ। मैं उन चीज़ों से भिन्न नहीं था जिन्होंने मेरा जीवन भर रखा था।

कृ. : जी हाँ।

ए. : चूँकि वे चीज़ें जिनसे मेरा जीवन भरा और घिरा हुआ था बची रहती हैं, मैं भी उस अर्थ में बचा रहता हूँ।

कृ. : जी हाँ। ये चार बिन्दु हुए।

ए. : प्रश्न पाँचवें के बारे में है। जब हर कोई कह देता है कि 'बेचारा जॉन चला गया', यहाँ तक कि उसे दफ़ना भी दिया जाता है, तब क्या कोई सोचने वाली चेतन सत्ता रहती है जिसे इस सबका भान हो? क्या कोई ऐसी चेतन सत्ता बचती है जो अदृश्य रूप से कहती हो—'भगवान का शुक्र, लोगों ने शरीर को तो दफ़ना दिया पर जीवित होने की मेरी चेतना अभी बाक़ी है!'

कृ. : हुं।

ए. : मुझे लगता है यही वह प्रश्न है जिसका उत्तर दे पाना कठिन है।

कृ. : सिडनी यही प्रश्न पूछ रहे थे।

ए. : क्योंकि हम देखते हैं कि उन बाकी रूपों में तो हर कोई मृत्यु के बाद बचा रहता है।

कृ. : अब आप पूछ रहे हैं कि क्या जॉन—जिसका शरीर जला दिया गया है, दाह-संस्कार हो चुका है—क्या वह अभी भी जीवित है?

ए. : क्या उसके पास अभी भी अपने होने की चेतना शेष है?

कृ. : मुझे सन्देह है कि जॉन की कोई अलग सत्ता है।

ए. : आपने शुरू में कहा था कि स्थायी अहम् जैसी कोई चीज़ वास्तव में नहीं है।

कृ. : आप कह रहे हैं कि मेरे भाई जॉन की मृत्यु हो गई है और आपका सवाल है कि क्या वह किसी अलग चेतना में जीवित है, किन्तु मेरी शंका है कि क्या वह कभी भी उस प्रवाह से भिन्न था?

ए. : हुँ।

कृ. : आप समझ रहे हैं मैं क्या कह रहा हूँ?

ए. : क्या कोई जॉन जीवित था?

कृ. : जब जॉन जीवित था तब क्या वह प्रवाह से अलग था?

ए. : प्रवाह ने उसकी चेतना को अपने से भर रखा था। उसकी अपनी चेतना वही प्रवाह थी जिसको अपने होने का पता था।

कृ. : नहीं, श्रीमान्, थोड़ा धीरे चलें। यह कुछ जटिल है। मानवता का प्रवाह क्या है—यह है क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, सत्ता-पद की कामना, छल-कपट, मिथ्याचरण, प्रदूषण आदि। यही वह प्रवाह है। उसी प्रवाह में मेरा भाई जॉन है। जब वह भौतिक रूप से मौजूद था तो उसकी एक देह थी, लेकिन मानसिक रूप से वह उस प्रवाह का हिस्सा था। इसलिए मेरा सवाल है कि क्या वह कभी उस प्रवाह से अलग था? या केवल भौतिक रूप से अलग होने के कारण वह सोचता था कि वह अलग है? आप समझ रहे हैं मैं क्या कहना चाह रहा हूँ?

ए. : एक ऐसी सत्ता रही थी जिसे अपने होने का आभास था...

कृ. : जॉन के रूप में।

ए. : उसे अपने होने की चेतना थी और प्रवाह का अस्तित्व उसके संबंध में था।

कृ. : हाँ।

ए. : मेरी पत्नी, मेरे बच्चे, मेरा प्यार आदि के रूप में।

कृ. : पर क्या जॉन आन्तरिक रूप से प्रवाह से भिन्न था? यही मेरा सवाल है। इसलिए जो मरा है वह शरीर है। और जॉन का जारी रहना उस प्रवाह के हिस्से के रूप में है। मैं, जो कि उसका भाई हूँ, उसे एक अलग हस्ती मानना चाहूँगा क्योंकि उसने एक अलग शरीर में मेरे साथ समय बिताया था। अन्दरूनी तौर पर वह उस प्रवाह का हिस्सा था। तो क्या कोई ऐसा जॉन था जो उस प्रवाह से अलग था? यदि वह अलग था तो क्या होता? पता नहीं आप इसे समझ पा रहे हैं या नहीं।

ए. : एक प्रवाह है जो बाहर से है और एक प्रवाह है जो अन्दर से है। जो सामान्यता, मामूलीपन या भद्दापन सड़क पर या गलियों में देखा जाता है वह उस व्यक्ति से भिन्न चीज़ है जो अपने को उस मामूलीपन के क्षण में क्रिया करते हुए महसूस करता है। मैं किसी का अपमान करता हूँ। यह मामूलीपन है। आप इस मामूलीपन को बाहर से होता हुआ देखते हैं और कहते हैं कि यह भद्दा काम है। मैं जो कि किसी का अपमान कर रहा हूँ इसे दूसरे रूप में देखता हूँ। जब मैं अपमान कर रहा होता हूँ उस समय मैं आत्म-चेतना का अनुभव करता हूँ। वास्तव में अपमान मैं इसलिए करता हूँ क्योंकि मैं अपने होने के बारे में सचेत हूँ। मैं अपना बचाव कर रहा हूँ, इसलिए मैं अपमान भी कर रहा हूँ।

कृ. : मैं यही कहना चाह रहा हूँ कि करोड़ों लोगों के साथ यही हो रहा है। जब तक मैं उस प्रवाह में बह रहा हूँ क्या मैं भिन्न हूँ? क्या वास्तविक जॉन प्रवाह से भिन्न है?

ए. : क्या जॉन कभी था भी?

कृ. : यही मैं कहना चाह रहा था।

ए. : एक सचेतन आग्रह या हठ था जो अपने को जॉन समझ रहा था।

कृ. : जी हाँ; पर मैं कल्पना कर सकता हूँ, गढ़ सकता हूँ क्योंकि मैं अलग हूँ।

ए. : एक कल्पना थी, एक विचार था जो अपने को जॉन कह रहा था।

कृ. : हाँ।

ए. : पर, क्या वह विचार अपने को अब भी जॉन माने बैठा है।

कृ. : लेकिन मैं तो उस प्रवाह का हिस्सा हूँ।

ए. : मैं हमेशा उस प्रवाह का हिस्सा रहा हूँ।

कृ. : जॉन जैसी कोई अलग सत्ता नहीं है जो मेरा भाई थी, जो अब नहीं रहा।

ए. : क्या आप कह रहे हैं *व्यक्ति* कोई था ही नहीं।

कृ. : नहीं, यही है जिसे हम स्थायित्व कहते हैं। स्थायी अहं यही है।

मेरी. : जिसे व्यक्ति के रूप में हम सोचते हैं।

कृ. : व्यक्ति, समूह, स्व के रूप में।

ए. : हाँ, विचार की पैदाइश जो अपने को स्व कहती है।

कृ. : यह उसी प्रवाह का हिस्सा है।

ए. : बिल्कुल।

कृ. : तो क्या कभी कोई जॉन था? कोई जॉन तभी है जब वह प्रवाह से बाहर है।

ए. : बिल्कुल ठीक।

कृ. : इसलिए हम पहले यह मालूम करने की कोशिश कर रहे हैं

कि क्या कोई स्थायी, अमर अहं होता है जो बार-बार जन्म लेता है।

ए. : पर अहं का स्वभाव ही अस्थायित्व का है।

कृ. : पुनर्जन्म की धारणा पूरे एशिया में है। आधुनिक लोग जो इसमें विश्वास करते हैं कहते हैं कि एक स्थायी, शाश्वत अहं होता है। कई जन्मों में यह अहं विघटित होता है और फिर ब्रह्म में मिल जाता है, ऐसा सब कहा जाता है। क्या शुरू से ही कोई स्थायी सत्ता रही है जो सदियों-सदियों तक बनी रहती है? स्पष्ट है कि ऐसी कोई स्थायी सत्ता नहीं है। मुझे यह सोचना अच्छा लगता है कि मैं स्थायी हूँ। मेरे स्थायीपन की पहचान मेरे फर्नीचर, मेरी पत्नी, मेरे पति, और परिस्थितियों से होती है।

ए. : बिल्कुल ठीक कहा आपने। हम सोचते हैं कि यह कुर्सी मेरी है।

कृ. : मुझे यह सोचना अच्छा लगता है।

ए. : लेकिन यह सिर्फ़ एक अनुमान है।

कृ. : इसलिए इसे देखिए। स्थायी स्व जैसा कुछ नहीं है। यदि कोई स्थायी स्व होता तो यह प्रवाह ही होता। अब यह महसूस करने के बाद कि मैं बाक़ी दुनिया की तरह ही हूँ, कोई अलग 'के', या जॉन या मेरा भाई नहीं है, तब यदि मैं उस प्रवाह से बाहर निकल आता हूँ तो मेरा पुनर्जीवित होना संभव है। पुनर्जीवन इस अर्थ में कि प्रवाह से बाहर हटकर मौलिक परिवर्तन घटित हो पा रहा है। प्रवाह में तो कोई बुनियादी परिवर्तन संभव ही नहीं है।

ए. : अगर कोई स्थायित्व या शाश्वतता है तो वह प्रवाह के बाहर ही है।

कृ. : नहीं, सर, स्थायित्व, अर्द्धस्थायित्व—यह सब प्रवाह ही है।

ए. : और इसलिए यह शाश्वत नहीं है। यदि यह शाश्वत है तो यह प्रवाह नहीं होगा। अतः यदि कोई सत्ता है तो वह अवश्य ही प्रवाह के बाहर होगी। इसलिए जो सत्य है, जो शाश्वत है वह कोई वस्तु नहीं है।

कृ. : वह चीज़ प्रवाह का हिस्सा नहीं है।

ए. : हाँ।

कृ. : जब नॉडे की मृत्यु होगी, और जब तक वह उस प्रवाह से संबंधित रहेंगे तब तक वह प्रवाह अर्द्धस्थायी रहेगा।

ए. : हाँ, यह प्रवाह चलता रहेगा। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।

कृ. : लेकिन अगर नॉडे कहते हैं कि मैं अगले जन्म में नहीं, अभी इसी जन्म में पुनर्जीवित होऊँगा, तो इसका अर्थ होगा कि वह प्रवाह से बाहर निकल आएँगे और वे उसके हिस्से न रह जाएँगे। इस प्रकार कुछ भी स्थायी नहीं है।

ए. : अतः पुनर्जीवित होने के लिए कुछ भी नहीं है। और यदि पुनर्जीवन संभव भी हो तो वह चीज़ जो पुनर्जीवित होगी स्थायी हो ही नही सकती।

कृ. : नहीं, वह प्रवाह ही है।

ए. : और बिल्कुल अस्थायी है।

कृ. : इसे इस तरह न रखिए।

ए. : अगर कोई अलग सत्ता है तो वह वास्तविक नहीं है।

कृ. : नहीं, इस तरह नहीं, जब तक मैं उस प्रवाह से जुड़ा हूँ...

ए. : मैं वस्तुतः हूँ ही नहीं...

कृ. : कोई अलग सत्ता है ही नहीं। मैं ही संसार हूँ।

ए. : बिल्कुल ठीक।

कृ. : जब मैं संसार से बाहर निकल आता हूँ तब क्या कोई 'मैं' बचता है जो आगे जारी रहे?

ए. : बिल्कुल ठीक। कितनी अद्‌भुत बात है।

कृ. : अतः हमारा जो प्रयास है वह प्रवाह के अस्तित्व को उचित ठहराने का है।

ए. : क्या हम यही करने का प्रयास कर रहे हैं?

कृ. : बिल्कुल। जब मैं कहता हूँ कि मुझे कई जन्म लेने हैं, तो

इसका अर्थ है कि मुझे उस प्रवाह से होकर ज़रूर गुज़रना है।

ए. : तब हम यह स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं कि हम प्रवाह से भिन्न हैं।

कृ. : हम भिन्न नहीं हैं।

ए. : हम प्रवाह से भिन्न नहीं हैं।

कृ. : तब, सर, क्या होता है? यदि कोई स्थायी जॉन या के. या नॉडे या ज़िम्बालिस्ट नहीं है तो क्या होता है? आपको पता है, मैंने शायद तिब्बती या किसी परंपरा में पढ़ा था कि जब वहाँ कोई व्यक्ति मर रहा होता है तो उनके पुरोहित या संन्यासी आते हैं और परिवार के सारे लोगों को बाहर निकालकर दरवाजा बन्द कर देते हैं। फिर वे मर रहे व्यक्ति से कहते हैं: 'देखो, तुम मर रहे हो, अब तुम बाहर निकलने दो— अपने सारे प्रतिरोधों, द्वेषों, सांसारिकताओं, महत्त्वाकांक्षाओं को; क्योंकि यदि तुम इस सबको निकल जाने देते हो तुम उस प्रकाश से मिल सकोगे जिसमें तुम्हें समाहित हो जाना है।

ए. : हाँ।

कृ. : अतः आपका क्या होता है जब आप उस प्रवाह से बाहर निकल आते हैं?

ए. : जब आप प्रवाह से बाहर निकल आते हैं तो आप नहीं रहते, आपका *होना* समाप्त हो जाता है। लेकिन पहले जब आप थे तो वह विचार की ही पैदाइश थी।

कृ. : जो कि प्रवाह है।

ए. : जो कि सामान्यता है।

कृ. : सामान्यता। तो क्या होता है जब आप प्रवाह से— उस धारा से— बाहर हो जाते हैं? बाहर होना ही पुनर्जन्म है। और तब आप एक नयी चीज़ के संपर्क में आते हैं। एक नया आयाम खुलने लगता है।

ए. : हाँ।

कृ. : तो अब क्या होता है? आप समझ रहे हैं? नॉडे प्रवाह से

बाहर निकल आए हैं। अब क्या होगा? अब आप कलाकार नहीं रहे; बिजनसमैन नहीं रहे; राजनीतिज्ञ नहीं रहे; संगीतकार नहीं रहे—कोई पहचान नहीं रही, क्योंकि सारी पहचान प्रवाह के अन्दर है।

ए. : सारी विशेषताएँ।

कृ. : सारी विशेषताएँ। जब आप उन सबसे हट जाते हैं तो क्या होता है?

ए. : आपकी कोई पहचान नहीं रहती है।

कृ. : पहचान प्रवाह में है। उदाहरण के लिए नेपोलियन और ऐसे ही तथाकथित महानायकों को लें, उन्होंने क्या किया? — मारा-काटा, हत्याएँ की, जो भी संभव बीभत्सता थी वह की; वे उसी प्रवाह में जीए और मरे, वे सदा उसी प्रवाह के हिस्से रहे। यह बिल्कुल स्पष्ट है। और एक अन्य व्यक्ति है जो प्रवाह से बाहर निकल आता है।

ए. : शारीरिक मृत्यु से पूर्व ही?

कृ. : बिल्कुल, नहीं तो उसका कोई मतलब नहीं है।

ए. : इस प्रकार एक दूसरा आयाम अस्तित्व में आता है।

कृ. : तब क्या होता है?

ए. : उस आयाम का अन्त होना, जिससे हम परिचित हैं, एक दूसरे आयाम में प्रवेश करना है। लेकिन इसकी अभिधारणा नहीं बनाई जा सकती क्योंकि सारी अभिधारणाएँ उसी आयाम की हैं जिसमें हम रहते हैं।

कृ. : हाँ, पर फ़र्ज़ कीजिए कि आप अभी जीवित रहते हुए...

ए. : उससे बाहर निकल आते हैं।

कृ. : प्रवाह से बाहर निकल आते हैं। तब क्या होता है?

ए. : यह मृत्यु होगी।

कृ. : नहीं, श्रीमान्।

ए. : यह मुत्यु होगी, पर शारीरिक नहीं।

कृ. : देखिए, आप उससे बाहर निकल आते हैं। अब क्या होगा?

ए. : क्या होगा— इसके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

कृ. : रुकिए, श्रीमान्। देखिए, हममें से कोई भी उस प्रवाह से बाहर नहीं निकलता। हम हमेशा उसी में रहते हुए दूसरे किनारे पर पहुँचने की कोशिश करते हैं।

ए. : यह उसी तरह है, कि लोग जागते हुए गहरी निद्रा की बात करें।

कृ. : ऐसी ही बात है श्रीमान्। हम सभी लोग उसी प्रवाह से संबंध रखते हैं। मनुष्य का संबंध उसी प्रवाह से रहता है। उसी में रहते हुए वह दूसरे छोर पर पहुँचना चाहता है। अब वह आदमी कहता है: अच्छा, मैं अपने इस बेतुकेपन और हास्यास्पद स्थिति को देख रहा हूँ।

ए. : पुराने आयाम में रहते हुए आप दूसरे आयाम को नहीं देख सकते।

कृ. : इसलिए मैं उसे छोड़ देता हूँ। मस्तिष्क कहता है—'बाहर हो जाओ'! वह बाहर हो जाता है, और फिर क्या होता है? इसे शब्दों में मत बाँधिए।

ए. : इसके बारे में अगर कुछ कहा जा सकता है तो वह है नि:शब्दता— प्रवाह की नि:शब्दता; इसे प्रवाह की मृत्यु भी कह सकते हैं। अत: प्रवाह की बात करें तो यह कुछ ऐसी चीज़ है जिसे पूर्ण विस्मरण या अन्त कहते हैं।

कृ. : आपको पता है प्रवाह से बाहर हो जाने का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है कोई विशेषण नहीं।

ए. : कोई स्मृति नहीं।

कृ. : नहीं श्रीमान्, इसे देखिए : कोई विशेषण नहीं, क्योंकि सारे विशेषण प्रवाह के होते हैं। जैसे ही आपने कहा कि आप सच्चरित्र या सदाचारी हैं, या ऐसे नहीं हैं, आप प्रवाह के हो गए। प्रवाह से बाहर होने का मतलब है इस सारे ढाँचे से बाहर हो जाना। इस प्रकार जिसे हम सृजन

मानते हैं वह प्रवाह के अन्दर ही है। मोज़ार्ट, बीथोविन, और सारे कलाकार, चित्रकार—आप समझ रहे हैं— वे सभी प्रवाह के अन्दर हैं।

ए. : मुझे ऐसा लगता है, सर, कि कभी-कभार, प्रवाह के भीतर जो चीज़ है वह उस चीज़ से जीवन्त हो उठती है जो कि कहीं परे है।

कृ. : नहीं, ऐसा संभव नहीं। ऐसी चीज़ें मत कहिए, क्योंकि प्रवाह में मैं कुछ भी बना सकता हूँ। अद्‌भुत तस्वीरें बना सकता हूँ। आश्चर्यजनक संगीत की रचना कर सकता हूँ। कैसी-कैसी तकनीकों का आविष्कार कर सकता हूँ...

ए. : वे आश्चर्यजनक क्यों हैं?

कृ. : क्योंकि संसार को उन चीज़ों की ज़रूरत है। ज़रूरत है, माँग है और उनकी सप्लाई, आपूर्ति है। मैं अब अपने से कह रहा हूँ कि उस आदमी के साथ क्या होता है जो वास्तव में प्रवाह से बाहर निकल जाता है। क्योंकि यहाँ नदी में— उस प्रवाह में— ऊर्जा द्वन्द्व में है, एक-दूसरे के विरोध में है, संघर्ष में है, मामूलीपन में है। और यह हमेशा चलता जा रहा है...

ए. : मैं और तू।

कृ. : यह हर समय चलता जा रहा है। जब वह उससे बाहर निकल आता है तो कोई द्वन्द्व व संघर्ष नहीं रहता है, मेरा देश-तुम्हारा देश जैसा कोई विभाजन नहीं रहता।

ए. : कोई विभाजन नहीं रहता।

कृ. : कोई विभाजन नहीं रहता। तो, उस आदमी की, उस मस्तिष्क की क्या गुणवत्ता होती है जिसमें विभाजन का कोई भाव नहीं होता? क्या यह शुद्ध ऊर्जा नहीं होती? अतः हमारा सरोकार है यह प्रवाह और इससे बाहर निकलना।

ए. : यही ध्यान है। यही वास्तविक ध्यान है। क्योंकि प्रवाह जीवन नहीं है। प्रवाह तो पूरी तरह यांत्रिक वस्तु है।

कृ. : मुझे प्रवाह के प्रति अवश्य मर जाना है।

ए. : हर क्षण मर जाना है।

कृ. : हर क्षण। अतः मुझे जॉन को, जो उस प्रवाह में है, अवश्य ही नकार देना है— नकारना नहीं, बल्कि उसमें न उलझना है।

ए. : प्रवाह की वस्तुओं का अस्वीकार आवश्यक है।

कृ. : इसका अर्थ है कि मुझे अपने भाई का अस्तित्व नकारना होगा।

ए. : मेरा कोई भाई है इस बात को नकारना होगा। आप देख रहे हैं इसका क्या अर्थ होगा?

कृ. : मैं देखता हूँ कि मेरा भाई इस प्रवाह में है, और जैसे ही मैं प्रवाह से हटता हूँ मेरा मन खाली हो जाता है, मुक्त हो जाता है। और मैं समझता हूँ, यही करुणा है।

ए. : जब प्रवाह को उस जगह से देखा जाता है जो प्रवाह के दायरे में नहीं है।

कृ. : जब प्रवाह का व्यक्ति प्रवाह से बाहर निकल आता है और मुड़कर देखता है तो उसके पास करुणा होती है।

ए. : और प्रेम होता है।

कृ. : देखिए सर, पुनर्जन्म यानी बार-बार जन्म लेना प्रवाह के अन्तर्गत है। यह कोई बहुत दिलासाजनक चीज़ नहीं है। मैं आपके पास आता हूँ और कल मर चुके अपने भाई का शोक क़रता हूँ, और इसके बदले में आप मुझे यह सब सुनाते हैं। मैं आपको एक बहुत ही क्रूर व्यक्ति कहने लगता हूँ। लेकिन सत्य यह है कि आप अपने लिए रो रहे हैं; प्रवाह के लिए विलाप कर रहे हैं। यही कारण है कि लोग सत्य जानना नहीं चाहते। आपकी इच्छा यह जानने की होती है कि आपका भाई कहाँ है; यह जानने की नहीं कि वह *है* भी।

सिडनी फील्डः *कृष्णमूर्तिः द रिलेक्टेन्ट मसाया* अनुवाद : मुकेश

खण्ड- II

न आरंभ, न अंत:
नब्बे वर्ष की आयु में कृष्णमूर्ति

भगवद्गीता में अर्ज़ुन कृष्ण से स्थितप्रज्ञ ज्ञानी पुरुष के लक्षणों के बारे में पूछते हैं: ''वह किस प्रकार चलता है, किस प्रकार बोलता है, उसका रहन-सहन किस प्रकार का होता है?''

कृष्णजी के बारे में यही प्रश्न उन बहुत से लोगों द्वारा पूछा जाता है जिन्होंने उन्हें देखा है और उनकी वाणी सुनी है। शायद इस अध्याय में इस प्रश्न के कुछ उत्तर पाए जा सकेंगे, परंतु फिर भी ऐसा उत्तर अधूरा ही रहेगा, क्योंकि कृष्णमूर्ति से जुड़ा रहस्य आकलनगम्य नहीं है।

नब्बे वर्ष की आयु हो जाने पर कृष्णमूर्ति की दिनचर्या तब से थोड़ी भिन्न है जैसी चालीस वर्षों से चली आ रही थी। जब वे भारत में होते हैं तो सूर्योदय के समय जाग चुके होते हैं, बिस्तर पर लेटे रहते हैं, सारी इन्द्रियाँ सचेत होती हैं, पर तब तक चित्त में कोई विचार नहीं उठता जब तक कि किन्हीं सुदूरवर्ती व्यापक आयामों से किसी प्रेरणा का आगमन नहीं होता और वह उन्हें सक्रिय नहीं कर देती। योगासनों और प्राणायाम से उनकी प्रभात का प्रारंभ होता है। पैंतीस मिनट तक प्राणायाम का क्रम चलता है, और पैंतालीस-मिनट योगासनों में व्यतीत होते हैं, उन योगासनों में जिनसे देह, स्नायुओं, माँस-पेशियों और त्वचा के तंतुओं की रचना करने वाले दैहिक-कोष चुस्त-दुरुस्त बने रहते हैं, त्वचा का प्रत्येक रंध्र खुल कर स्वच्छ और स्वस्थ हो जाता है ताकि यह स्वाभाविक रूप से और लयपूर्वक श्वास ले सके।

कृष्णमूर्ति प्रात: आठ बजे फलों, टोस्ट, मक्खन एवं चोकर युक्त आटे से बनी किसी वस्तु का नाश्ता लेते हैं। कभी-कभी उनके नाश्ते में दक्षिण भारतीय खाद्य वस्तुएँ— जैसे इडली या डोसा— आदि होते हैं और साथ में नारियल की चटनी होती है। भारत में, नाश्ते की उनकी मेज़ के इर्द-गिर्द उनके घनिष्ठ-मित्र शिक्षा एवं विद्यालयों, चेतना, मानव में अवस्थित विखंडन के बीज, कम्प्यूटरों एवं कृत्रिम-बुद्धि की भूमिका आदि विषयों पर चर्चा करने के लिए जमा होते हैं। वे अंतर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय समाचारों की जानकारी लेते हैं। देश की हालत पर मुक्त-रूप से चर्चा की जाती है; हिंसा, भ्रष्टाचार, मूल्यों का क्षय, मनुष्य का भविष्य या मानव-मन का अभिरूपांतरण आदि विषय भी चर्चा में स्थान पाते हैं। हर प्रकार का प्रश्न पूछा जाता है और प्रत्येक व्यक्ति चर्चा में भाग लेता है; चर्चाओं के बीच भी प्रगाढ़-शान्ति और सुचारु-अनुशासन का वातावरण बना रहता है।

अनेक मामलों में, उनका व्यवहार किसी बच्चे जैसा हुआ करता है, ख़ासकर राजनीतिक क्षेत्र से संबंधित मसलों पर; परंतु अन्त:करण अथवा मन के आयामों के विषय में उनकी सजगता और सर्वाधिक-गंभीरता का रुख भी प्रत्यक्षत: देखा जा सकता है। प्राय: वे कुछ पलों के लिए मौन हो रहते हैं ताकि मन को प्रश्नों के साथ छोड़ दिया जाए और वह उत्कटता एवं गरिमा के साथ प्रत्युत्तर दे सके।

जब उन्हें प्रात: आयोजित किए जाने वाले संवादों में हिस्सा लेना होता है तो नाश्ते के लिए थोड़ा-सा समय रहता है। हम जल्दी ही नाश्ते की मेज़ से उठ जाते हैं ताकि साढ़े-नौ बजे पुन: मिल सकें जब एक छोटा-समूह संवादों में भाग लेने के लिए एकत्र होता है। चर्चाएँ ग्यारह बजे तक चलती रहती हैं, जिसके पश्चात् वे लोग, जिनकी अपनी कोई विशेष समस्याएँ या व्यथा-वेदनाएँ हों, उनसे व्यक्तिगत बातचीत कर सकते हैं। अनेक बार वे उन्हें कुछ मिनटों के लिए अपने कमरे में ले जाया करते हैं। जिन दिनों इस प्रकार के सामूहिक-वार्तालाप आयोजित नहीं होते, वे अपने साथियों से दो-तीन घंटो तक वार्तालाप करते हैं। हमलोग मृत्यु, ईश्वर के स्वरूप, अवलोकन एवं अवलोकनकर्त्ता आदि विषयों पर चर्चा करते हैं। अनेक-

अवसरों पर, सर्वाधिक प्रखर अन्तर्दृष्टियों का उद्घाटन भी इन सत्रों में हुआ है। साढ़े-ग्यारह बजे के आस-पास वे अपने कमरे में चले जाते हैं और आधे-घन्टे के लिए लेटकर आराम करते हैं जिसके बीच वे 'इकॉनोमिस्ट', 'टाइम' अथवा 'न्यूजवीक' जैसी पत्र-पत्रिकाओं का, वृक्षों-पर्वतों, पक्षियों या जीव-जन्तुओं की पिक्चर-बुक्स का या किसी रहस्यमयी उपन्यास का अवलोकन करते हैं। गंभीर पुस्तकें वे शायद ही कभी पढ़ते हैं। परंतु संसार की दशा, विज्ञान और प्रौद्योगिकी तथा मनुष्य को विनष्ट करने वाली ह्रासकारक प्रक्रियाओं से वे भली-भाँति अवगत रहते हैं। दोपहर में उनके शरीर पर तेल से मालिश होती है और बहुत गर्म पानी से स्नान। एक बजे दोपहर के भोजन का समय होता है। वे भारतीय ढंग का भोजन लेते हैं, पर तली हुई कोई वस्तु नहीं ग्रहण करते और मीठी वस्तुएँ अति अल्प मात्रा में लेते हैं। उन्हें भारतीय अचार अच्छे लगते हैं और बहुत थोड़ी मात्रा में उनका सेवन करने से वे परहेज नहीं करते। दोपहर के भोजन के समय पुनः चर्चाएँ होती हैं और अतिथियों को भी भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जाता है।

वार्ताओं के विषय अंतर्राष्ट्रीय मामलों से लेकर वैज्ञानिक-शोधों, युद्ध, नाभिकीय-नि:शस्त्रीकरण एवं इससे जुड़ी उन समस्याओं तक को समाहित करते हैं जिनके हल शायद ही किसी के पास हों। कृष्णजी की उत्कट जिज्ञासा सहज ही परिलक्षित होती है, और वे बड़े गहरे प्रश्न उठाते हैं। विज्ञान के नये आविष्कारों पर वे आश्चर्यचकित होते हैं। विश्व की घटनाओं के विषय में उन्हें अन्तर्दृष्टि प्राप्त है और वैश्विक-समग्रता के आधार पर वे उनकी अच्छी-तरह से विवेचना कर सकते हैं। प्रायः वे आगंतुकों से पूछा करते हैं: देश में क्या हो रहा है? उसने अपनी सारी सृजनात्मकता खो क्यों दी है? इसका कोई भी उत्तर उन्हें सन्तोष प्रदान नहीं कर पाता। यदि प्रश्नकर्त्ता गंभीर है तो उसे प्रोत्साहित किया जाता है कि इस प्रश्न को अपने भीतर रखे और इससे प्राप्त संकेतों के प्रति सजग रहे। अपनी आन्तरिक प्रक्रियाओं में हो रही विकृति के बारे में प्रश्न करते रहने और मन को प्रश्न के साथ रहने देने, और उस पर गंभीरता से गौर करने का आग्रह किया जाता है।

उनके अवधान का विस्तार अकल्पनीय है। एक बार उन्होंने मुझसे

कहा कि कुछ प्रश्न तो ऐसे हैं जिन्हें अनंतकाल तक अपने अंतर में जागृत रखा जाना चाहिए।

दोपहर के भोजन के समय वे पुनः उस प्रश्न को जारी रखते हैं जिसे उन्होंने नाश्ते के समय उठाया था, और कभी-कभी वे कहानियाँ-किस्से आदि भी सुनाते हैं— जंगली जानवरों से उनके साक्षात्कार के प्रसंग, या सेंट पीटर और स्वर्ग एवं नरक की कहानी, रूस तथा कमिसार्स, जिसे वे बहुत हाव-भाव और उत्साह-उमंग के साथ रसपूर्वक सुनाते हैं। उनके हृदय में विद्वेष का पूर्ण अभाव है। अपरिचितों से उन्हें संकोच होता है और संवादहीनता के असमंजस को दूर करने के लिए किसी अन्य को हस्तक्षेप करना पड़ता है।

वर्षों तक वे असंख्य लोगों से मिलते रहे हैं। संन्यासी, बौद्ध-भिक्षु, सिद्ध, पारिव्राजक योगी मानों उनकी ओर खिंचे चले आते हैं, ताकि अपने प्रश्नों आदि के समाधान पा सकें या मानसिक-शान्ति मिले। वे उनसे मिलने से कभी पीछे नहीं हटते। तपस्वियों-साधुओं का गेरुआ या काषाय वस्त्र उनके हृदय में गहन करुणा की भावना जगा देता है। 1970 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में, दो जैन साधु उनसे मिलने प्रतिवर्ष आने लगे थे। उनकी आगामी मुलाक़ात का दिन, तारीख, स्थान और समय लगभग वर्ष भर पहले तय हो जाता था। क्योंकि चातुर्मास के दौरान, वर्षाॠतु के चार महीनों में वे एक ही स्थान पर रहते थे और उस समय उनका सारा परिभ्रमण बंद रहता था। ये चार माह बीतने के पश्चात् वे दोनों साधु कृष्णजी से मिलने के लिए अपनी तीर्थयात्रा पर रवाना होते और पूर्व-निश्चित दिन और समय पर मुम्बई पहुँचने के लिए कभी-कभी तो उन्हें सात-सौ मील की दूरी पैदल तय करनी होती थी। उनमें से एक ल्यूकेमिया (श्वेत दाग या रक्त कैंसर) का रोगी था और दूसरा जिसके नेत्र बहुत सुन्दर थे कम आयु का ही नवयुवक था। वे अपने मुख पर सफेद सूती-कपड़े की पट्टी बाँधे रखते थे ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि साँस लेते समय भी किसी जीव की हिंसा न हो। वे अंग्रेजी नहीं बोल सकते थे, अतः जो कुछ कहा जाता था उसका भाषान्तर मेरे द्वारा किया जाता था। मैं दरवाजे की चौखट पर

बैठी रहती थी, जबकि वे कृष्णजी के पास उनकी ही चारपाई पर बैठते थे; क्योंकि मुनिधर्म के अनुशासन के अन्तर्गत उन्हें किसी स्त्री के साथ एक ही चटाई या दरी आदि पर बैठने की अनुमति नहीं थी। उनकी जिज्ञासा उत्कण्ठापूर्ण होती थी। युवावस्था में ही उन्होंने अपनी देह की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को भी बलपूर्वक नकार दिया था और जिस मुक्ति के प्राप्त होने का आश्वासन उन्हें दिया गया था, वह दूर-दूर तक कहीं दिखाई नहीं दे रही थी। कृष्णजी उनसे अत्यंत सौजन्यपूर्वक पेश आते थे और लम्बी बातचीत उनके बीच चला करती थी। एक वर्ष किसी कारणवश, ये साधु पूर्व-निश्चित भेंट के लिए न आ सके। कहना कठिन है कि इसका क्या कारण रहा होगा। संभव है कि उनके संप्रदाय-प्रमुख के मन में यह आशंका उठी हो कि ये साधु कहीं अधिकार-वृत्ति (परंपरा से प्राप्त वर्चस्व) के विरुद्ध विद्रोह न कर दें और फलतः इन्हें कृष्णजी से भेंट करने की अनुमति न दी गई हो।

दोपहर के भोजन के बाद कृष्णजी आराम करते हैं। चार बजे के आस-पास वे पुनः लोगों से मिलने लगते हैं। एक स्त्री जिसकी आँखों की ज्योति धुँधली होती जा रही है उनके पास आती है, वे अपनी हथेलियों से उसके नेत्रों को स्पर्श करते हैं। एक अन्य स्त्री जिसके पुत्र की मृत्यु हो गयी है, उनके पास आती है, वह उनके पास बैठ जाती है, वे उसका हाथ हाथों में लेते हैं और सान्त्वना देते हुए प्रतीकात्मक ढंग से उसके आँसू पोछते हुए बाह्यतः, परंतु आन्तरिकरूप से मन के दुःख का निवारण करते हैं; इस हिंसा से भरे संसार में एक विभ्रान्त नवयुवक अपने प्रश्नों के उत्तर पाने उनके पास आता है।

1970 के दशक के अंतिम वर्षों के प्रारंभ से वे अपेक्षाकृत कम लोगों से मिलने लगे थे, परंतु अब आयु के नब्बे वर्ष हो जाने पर वे उन सबके लिए उपलब्ध हैं जो उनकी कोई सहायता चाहते हैं, उनके द्वार किसी के लिए बन्द नहीं होते— विचित्र भ्रमों का शिकार कोई नवयुवक, या उपग्रहों से संबंध रखने वाला कोई व्यक्ति; दुखों से पीड़ित कोई महिला; किशोर; वृद्ध, अन्धा— सबके लिए उनके द्वार सदैव खुले होते हैं। उनकी व्यस्तता

और थकान इनके लिए न मिल-पाने का कारण नहीं बन पाती।

उनका नाम और शिक्षाएँ सारे देश में विख्यात हैं— हिमालय में स्थित आश्रमों से लेकर उच्च-शिक्षा के शोध-केन्द्रों तक वे जाने जाते हैं। भारत के बौद्ध अब भी उन्हें नागार्जुन की परंपरा का एक श्रेष्ठ आचार्य मानते हैं, जबकि हिन्दू गुरु एवम् साधु उनके बारे में कहते हैं कि वे अद्वैत-परंपरा के एक महान् जीवन्मुक्त हैं। उनके मत में वे इस युग के एक सर्वाधिक मूर्धन्य आचार्य हैं।

सूर्यास्त होते-होते वे संध्या-भ्रमण के लिए चले जाते हैं। नब्बे वर्ष की आयु में भी वे लम्बी सैर कर लेते हैं, उनकी काया एक सीध में तनी और संतुलित होती है। उनके साथ उनके घनिष्ठ मित्र, मित्रों के बेटे और नाती-पोते भी भ्रमण पर जाया करते हैं। कभी-कभी वे किसी नन्हीं बच्ची का हाथ पकड़ लेते हैं और उसके साथ चलते और खिलखिलाते हैं। अपनी साँसों में धरती, वृक्षों की गंध भरते हुए, दूर से आ रही आवाज़ों को ध्यानपूर्वक सुनते हुए वे लगभग तीन मील की दूरी तक भ्रमण करते हैं। इस दौरान बहुत कम बातचीत होती है। अनेक बार वे अकेले रहना पसन्द करते हैं और उनका मन कहीं दूर होता है। उनका कहना है कि इन भ्रमणों के दौरान उनके चित्त को किसी विचार की तरंग छूती तक नहीं है।

वापस आकर वे एक बार फिर नहा-धोकर स्वच्छ होते हैं, और कुछ समय तक प्राणायाम करते हैं। रात्रि में हल्का भोजन जैसे—सलाद, फल, सूखे मेवे, सूप और सब्जियाँ लेते हैं। बिरले अवसरों पर वे थोड़े से मित्रों के साथ भोजन की मेज़ पर उपस्थित होते हैं और मन से परे अवस्थित शाश्वतता की ओर इंगित करते हैं। उनके हाथ शिक्षक की मुद्रा में आ जाते हैं। उनकी वाणी में बदलाव आ जाता है, उसमें शक्ति और अपार ऊर्जा का संचार हो उठता है, व्यापक विराट मौन कमरे में गहन हो उठता है।

उनके हृदय में शान्ति की एक सरिता सतत् प्रवाहित रहती है। उनका मन कभी जड़ नहीं होता। किसी भी प्रकार की आलोचना सुनने के लिए वे सदैव तैयार रहते हैं। मुझे स्मरण है कि सन् 1978 में एक दिन जब वे और मैं कोलम्बों में एक ही घर में रुके हुए थे। उस दिन वे व्याकुल दिखलाई

दे रहे थे। मैंने उनसे कहा, ''सर, आप उद्विग्न हैं।'' उन्होंने मेरी बात का कोई उत्तर नहीं दिया। हम किसी अन्य विषय पर बातें करने लगे। रात्रि के भोजन के वक़्त वे मेरी ओर मुड़े और बोले, ''आपने कहा था कि मैं उद्विग्न हूँ। इस दोपहर विश्राम के लिए जाते समय मैं इस प्रश्न को अपने साथ लेता गया। मैंने स्वयं से पूछा, 'क्या मैं उद्विग्न हूँ? क्या इसका कारण यह है कि मैं दूसरों पर आश्रित हूँ?' और एकाएक ही मैंने इसे देख लिया। प्रश्न का उत्तर खोजना, उद्विग्नता को मन की भूमि में जड़ें जमाने देना है; और यह विलीन हो गया। अब मैं पुन: कभी उद्विग्न न होऊँगा। मैं हर वस्तु को ध्यानपूर्वक देख-सुन रहा था— अपने शरीर को, अपने मन को, ताकि उद्विग्नता का कोई भी चिन्ह जड़ से उखड़ जाए।

किसी भी चुनौती का सामना करने से वे कभी पीछे नहीं हटते। अवलोकन, श्रवण, जिज्ञासा करना वे कभी समाप्त नहीं करते। यद्यपि उनके मन में कुछ इने-गिने प्रतीकों को विशेष स्थान प्राप्त है, किन्तु नदियों से उन्हें गहन-अन्तरंग आत्मीयता है। सन् 1961 में जब वे मुम्बई में वार्ता कर रहे थे, गंगा का वर्णन उन्होंने इन शब्दों में किया था : ''हो सकता है कि इसका कहीं प्रारम्भ और कहीं अंत होता हो। परन्तु प्रारम्भ नदी नहीं है, और अंत नदी नहीं है। नदी तो उनके मध्य का प्रवाह है। यह ग्रामों और नगरों से गुज़रती है और इसमें सब-कुछ बहता चला आता है। यह प्रदूषित है, इसमें गन्दगी और अशुद्धियाँ बहा दी जाती हैं, और कुछ मीलों तक बहते-बहते यह अपने-आपको पुन: निर्मल बना लेती है। यह नदी है जिसमें सब कुछ जीवन पाता है, सतह से नीचे मछली और सतह से बाहर मनुष्य, जो इसके जल का पान करता है। यह है नदी। इसके पीछे है प्रचण्ड-वेग से बहते जल की शक्ति; और स्व-शुद्धिकरण की यही प्रक्रिया नदी है। निष्कपट मन उस नदी जैसा होता है। इसका न कहीं प्रारम्भ है, न अंत— न काल।''

चलते समय, बातें करते समय, या कोई छोटा-मोटा काम करते समय भी, जैसे जूतों पर पॉलिश करते समय, या रास्ते पर पड़े पत्थर को उठाकर एक ओर करते हुए वे ऊर्जा का अपव्यय नहीं करते। जैसे-जैसे वे वृद्ध हो

रहे हैं उनके हाथों का काँपना बढ़ चला है; कोलाहल और प्रदूषण से भरे संसार को अत्यंत-संवेदनशील शरीर का एक प्रत्युत्तर है यह। उन्होंने प्राय: ऐसे रोगों की पीड़ा झेली है जिनका रहस्य समझना कठिन है: वे भयाकुल हो उठते हैं, उनकी आवाज़ बदल जाती है, कभी-कभी छोटे बच्चों जैसे हो जाते हैं, विचित्र प्रश्न पूछा करते हैं, एकाएक ही चक्कर या मूर्च्छा आने लगती है—ख़ासकर उस समय जब उनके आसपास ऐसे लोग हों जिन पर वे भरोसा कर सकें; और प्राय: ही अपना उपचार स्वयं ही कर लेते हैं।

प्रकृति से, वृक्षों, चट्टानों और धरती से उनका रिश्ता एक विशिष्ट सार्थकता से युक्त है; उनमें यह क्षमता है कि प्रकृति के गूढ़तर तलों तक प्रविष्ट हो सकें और उसमें संचरित जीवन को महसूस कर सकें। हाल के दिनों में वे उस नाद की बात करने लगे हैं जो वृक्षों के भीतर तब गूँजता है जब बाहर की आवाज़ें शान्त हो चुकी होती हैं। पशु-पक्षी उन पर भरोसा करते हैं। मैंने उन्हें बगीचे में अकेले बैठे और घास पर धानी (चावल की लाई या परमल आदि) बिखेरते देखा है; उनसे कुछ ही इंचों के फ़ासले पर चिड़ियाएँ दाना चुगती हैं और उनमें से कुछ तो उनके कंधों पर भी उतर आती हैं। अपने बारे में वे ब्राउनिंग को गलत-ढंग से उद्धृत करते हुए कहते हैं: *"Shy like a squirrel, wayward like a swallow"* (गिलहरी की तरह शर्मीला और अबाबील की तरह आवारा।)

साढ़े-दस बजे तक वे सो चुके होते हैं। नींद में जाने से ठीक पहले पूरा दिन एवं दिनभर के कार्य त्वरित-गति से उनके मन से गुज़र जाते हैं; छण-भर में दिन और सारे व्यतीत-कल मिटा दिये जाते हैं। निद्रा की अवस्था में कृष्णजी का शरीर किसी पक्षी की तरह अपने-आप में सिमट-सा जाता है। नींद से एकाएक जगा दिया जाना उन्हें पसंद नहीं है। वे कहते हैं कि उन्हें बिरले ही कभी स्वप्न आते हैं। जब वे उठते हैं तो उनके बिस्तर पर शायद ही कभी कोई सलवट दिखलाई देती है।

किसी भी प्रकार की जड़ी-बूटियों से बनी या आयुर्वेदिक औषधियों का प्रयोग करने में उन्हें हिचक नहीं होती; जबकि आधुनिक दवाओं से वे कतराते हैं। आहार के विषय में उनके विचित्र-आग्रह हैं; कभी तो वे दूध

में संतरे का रस मिलाकर पीते हैं और कभी-कभी दूध पीना ही बन्द कर देते हैं; अन्य अवसरों पर वे केवल कच्चे भोजन पर ही गुज़ारा कर लेते हैं। आहार से संबंधित उनके इन विचित्र रुझानों पर उनके मित्र मुस्कुराते हैं। यदि कोई उनके चरण छूना चाहे तो वे इसकी अनुमति नहीं देते। और यदि फिर भी कोई ऐसा करे, तो वे स्वयं भी झुककर उसके चरणों को छू लेते हैं।

अपने सार्वजनिक संभाषणों के दौरान, जिनमें सात हज़ार के लगभग श्रोता होते हैं, वे अभी भी लाल-चौड़े किनारे वाली धोती और लम्बा शहद जैसे रंगवाला वस्त्र पहनते हैं। आसन पर जाते समय उनके साथ यद्यपि चारों ओर लोग उन्हें घेरे रहते हैं पर कोई उन्हें छूता नहीं। जब वे मंच पर बैठ जाते हैं, तो उनकी उपस्थिति का प्रभाव दूर-दूर तक फैलता है और उनके श्रोता उन्हें सुनने के लिए उनके निकट आने लगते हैं। वे बोलना प्रारम्भ करते हैं। उनकी पीठ सीधी रहती है, उनकी वाणी सुस्पष्ट होती है और उनका उच्चारण प्रत्येक शब्द के सूक्ष्म आयामों को खिलने का अवसर देता है। उनका चेहरा काल से अछूता होता है। हथेलियाँ गोद में होती हैं; कभी-कभी उनमें हलचल भी हुआ करती है। सांकेतिक मुद्राएँ व्यक्त करते हुए वे ऐसी दिखलाई पड़ती है मानों प्रकाश पड़ने से कलियाँ चटखकर खिलने जा रही हों। लगभग दो घण्टों तक श्रोतागण शान्त बैठे रहते हैं, शायद ही कोई हलचल कहीं होती हो। संभाषण की समाप्ति पर कृष्णजी कुछ पलों के लिए मौन हो रहते हैं, फिर दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं और जन-समुदाय उनकी दिशा में बहने लगता है। जो तेजस्विता उनकी देह से अब तक प्रवाहित हो रही थी उसके प्रभाव से उनकी देह थरथराने लगती है। वे अपने दोनों हाथ फैलाकर लोगों की ओर आते हैं और जो उन तक पहुँच पाते हैं वे उन हाथों को पकड़ लेते हैं। धीरे-धीरे वे भीड़ से बाहर निकल आते हैं।

कृष्णजी मंच से उतरते हैं। जिस सँकरे मार्ग से वे गुज़रते हैं उस पर लोगों की भीड़ का दबाव बढ़ जाता है; लोग उनके चरण छूने के लिए झुकते हैं, और वे उनके चेहरों को अपने हाथों से स्पर्श करते हैं। वे अपने

हाथ पीछे नहीं खींचते, बल्कि दोनों ओर फैलाकर रखते हैं। किसी सिंह की तरह वे चलते हैं— धीरे-धीरे, अतीव गरिमामयी चाल से। उनके नेत्र चारों ओर स्थित सैकड़ों-नेत्रों से मिलते हैं। लगता है कि भीड़ नियंत्रण से बाहर होने वाली है, पर उनकी विद्यमानता स्थिति को संभाल कर सामञ्जस्य भंग नहीं होने देती। लोग लौटने लगते हैं। वे अकेले चल रहे हैं। कार में बैठे उनके साथी जब खिड़की के शीशे चढ़ाना चाहते हैं तो वे उन्हें ऐसा करने से रोक देते हैं। उनकी भुजाएँ कार की खिड़की से लोगों की ओर बढ़ी हुई बाहर निकल आया करती हैं। मुख्य-द्वार तक जाने वाले रास्ते पर कार के आसपास नर-नारियाँ उन्हें छूने, उनके समीप जाने के लिए मानों कार पर टूट पड़ रहे हैं, वे उनके फैले हाथों को हाथों में लेकर उन्हें अपनी आँखों से छुआते हैं। पर कार में उनके बैठने से पूर्व भीड़ को बढ़ते देखकर एक पुलिसवाला लोगों को दूर होने के लिए कहता है। कृष्णजी उसे रोकते हैं, उसका हाथ अपने हाथों में लेकर कुछ क्षणों तक थामे रहते हैं। पुलिसवाला अपनी छड़ी एक ओर फेंककर कृष्णजी के चरणों में साष्टांग प्रणाम करने लगता है। कृष्णजी उसे उठाते हैं, अभी भी उन्होंने उसका हाथ थाम रखा है, और वे कार में प्रविष्ट होते हैं। कार के चलते ही, वह भी कार के साथ-साथ दौड़ने लगता है; वह कृष्णजी का हाथ छोड़ना ही नहीं चाहता।

पेडर-रोड स्थित फ्लैट पर बच्चे सुगंधित पुष्पहार लिए प्रतीक्षारत हैं, इस पुष्पहार में चमेली और गुलाब के फूल और फूलों से ही बनाये गये मोती, माणिक और पन्ने आदि गुँथे हैं। वे सम्मानपूर्वक इसे स्वीकार करते हैं, और पास खड़े बच्चों को इसे लौटाने से पहले थोड़ी देर गले में पहने रहते हैं। उनके बहुत निकट रहना, उनके साथ रहना सदैव एक कठिन कार्य रहा है। वे बहुत तेजस्वी हैं और उनके तेज को झेल पाने का सामर्थ्य उनके सहयोगियों में आ पाए, इसके लिए थोड़ा समय लगता है। कभी-कभी वे अपने मित्रों से भी गंभीर प्रश्न करते हैं और अपेक्षा रखते हैं कि वे ध्यानपूर्वक इस बारे में प्रत्युत्तर दें, अवलोकन करें। वे बहुत सावधानी से इसका निरीक्षण करते हैं कि उनके साथी अन्य लोगों और उनके वक्तव्यों के प्रति सजगतापूर्वक प्रत्युत्तर दे रहे हैं, अथवा प्रतिक्रिया मात्र कर रहे हैं।

ह्रासोन्मुख मन वाले लोगों के लिए यह संभव नहीं है कि वे उनके आसपास मँडरा सकें— या तो उन्हें आगे बढ़ना होता है या फिर वे पीछे छूट जाते हैं। विपुल ऊर्जा की धारा के इस प्रवाह में या तो आप इससे एक हो जाएँ या फिर आपके लिए इसमें कोई स्थान नहीं है।

उनकी काया दुर्बल है पर उनका मन कभी शिथिल नहीं होता। उनका कहना है कि जैसे-जैसे वे वृद्ध होते जा रहे हैं, असीम ऊर्जा उनके माध्यम से कार्य करने लगी है। समय की माँग को देखते हुए कार्य का महत्त्व जितना अधिक बढ़ता जा रहा है, शक्ति भी उसी अनुपात में बढ़ रही है। लगता है वे कभी थक नहीं सकते। वे शरीर से स्फूर्तिपूर्वक कार्य लेते हैं, तेज चलते हैं, इस सीमा तक अपनी परीक्षा लेते हैं कि उनकी उम्र की आधी आयु वाले भी उनसे क़दम नहीं मिला पाते। केवल तभी वे कमज़ोर और ढली हुई आयु के जान पड़ते हैं जब वे कुछ नहीं कर रहे होते— जब वे बिस्तर पर लेटे होते हैं। तब उनके हाथ काँपते हैं, शरीर सिकुड़ जाता है; पर चर्चाओं के समय, चाहे नाश्ते की मेज हो या दोपहर का भोजन, और उनकी वार्ताओं के समय उनकी सारी झुर्रियाँ गायब हो जाती हैं। उनकी त्वचा मानों आन्तरिक प्रकाश से दैदीप्यमान हो उठती है।

नब्बे वर्ष की उम्र में भी कृष्णजी का यात्राएँ करना, बोलना जारी है और ऐसे लोगों की खोज भी जारी है जिनके मन जागृत हैं तथा स्पष्टतापूर्वक बोधग्रहण करने की क्षमता जिनमें है। क्योंकि इस प्रकार से किए जाने वाले बोध ग्रहण में ही, पूर्ण प्रस्फुटन में ही मस्तिष्क का रूपान्तरण होता है।

वर्ष 1980 में कृष्णजी ने मुझसे कहा था कि जब वे बोलना बन्द कर देंगे तब उनकी देह भी समाप्त हो जाएगी। देह के अस्तित्व का एक ही प्रयोजन है : *शिक्षा* की अभिव्यक्ति करना।

पुपुल जयकर — अनुवाद : विनय कुमार वैद्य

कृष्णमूर्ति: अ बायोग्राफी

नए प्रकाशन

Total Freedom : The Essential Krishnamurti : काफी प्रतीक्षा के बाद इस पुस्तक का भारतीय संस्करण प्रकाश में आया है । पुस्तक का प्रारम्भ स्टार कैम्प, ओमेन में 2 अगस्त 1929 को दिये गए ऐतिहासिक वक्तव्य— *Truth is a pathless land* से होता है जिसमें कृष्णजी यह घोषणा करते हैं कि— *"My only concern is to set men absolutely, unconditionally free".* स्वतंत्रता पर यह जोर प्रारंभ से अन्त तक कृष्णजी की शिक्षाओं के केन्द्र में रहा है। कृष्णजी के सुविशाल साहित्य में से चुने गए स्वतन्त्रता विषयक अंशों को पुस्तक में चार भागों के अन्तर्गत संकलित किया गया है— *अर्ली वर्क्स, इनसाइट्स इनटु एवरीडे लाइफ, लाइफ्स क्वेश्चन्स एवं यू आर द वर्ल्ड।* प्रो० राल्फ बूल्तजेन्स की प्रस्तावना तथा प्रो० एलन डब्ल्यू० एण्डरसन के परिचय से संयुक्त इस पुस्तक के अन्त में दी गई अनुक्रमणिका तथा सन्दर्भ स्रोत शोधार्थियों के साथ-साथ सामान्य पाठक के लिए भी उपयोगी होंगे। कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इण्डिया द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक में कुल 370 + XIV पृष्ठ हैं तथा मूल्य 175 रुपये है।

What are you doing with your Life ? : 'क्या आप यह पता लगाना चाहते हैं कि जीवन में आप वास्तव में क्या करना पसन्द करेंगे ?'. 'क्या इस संसार में जीने के लिए महत्त्वाकांक्षा और प्रतिस्पर्धा वास्तव में जरूरी हैं ?', 'माता-पिता और शिक्षकों के साथ आपके संबंध का आधार क्या है ?', 'आप अपनी मानसिक समस्याओं जैसे बोरियत, ईर्ष्या, भय, पीड़ा आदि के साथ क्या करते हैं?', इसी प्रकार के तमाम प्रश्नों पर जे. कृष्णमूर्ति के विचारों का संकलन इस पुस्तक में किया गया है। युवा मस्तिष्क को ध्यान में रखकर तैयार किया गया यह अपने किस्म का पहला और उत्कृष्ट संकलन है। कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इण्डिया द्वारा प्रकाशित 264 पृष्ठों की इस पुस्तक का मूल्य मात्र 100 रुपये है।

Is there Life after Death ?: 28 जून, 1979 को ब्रॉकवुड पार्क, इंगलैंड में बौद्ध विद्वान वालपोला राहुला के साथ हुई कृष्णजी की वार्ता का संकलन इस पुस्तक में किया गया है। मृत्यु के बाद जीवन के प्रश्न पर चर्चा करते हुए कृष्णमूर्ति कहते हैं कि मृत्यु के पश्चात् अलगावकारी 'मैं' के मानसिक घटक— इच्छा, वासना, कामना, भय आदि— एक ऐसे ''विशाल, सामान्य प्रवाह'' का निर्माण करते हैं जिसमें मानव जाति जीती और कष्ट भोगती है। इस निरन्तर प्रवाह में ही अलगावकारी 'मैं' का बार-बार जन्म होता है। वालपोला राहुला बुद्ध के दर्शन के प्रकाश में इसकी व्याख्या करते हैं। इस संवाद का डी.वी.डी. भी निकाला गया है। पुस्तक और डी.वी.डी. मंगाने के लिए संपर्क करें: Krishnamurti Foundation Trust, Brockwood Park, Bramdean, Hampshire S024 OLQ, England, Fax : [44] (1962) 771159, e-mail : Info@brockwood.org.uk

कृष्णमूर्ति अध्ययन अवकाश/कार्यशालाएँ

कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर, राजघाट में वर्ष 2003 में श्री जे. कृष्णमूर्ति की शिक्षा के आलोक में निम्न विषयों पर केन्द्रित अध्ययन-अवकाश/कार्यशालाओं का आयोजन किया जा रहा है।

विषय	आगमन	प्रस्थान
1. Mediocrity in our life	शनिवार 22 मार्च	बुधवार 26 मार्च 2003
2. नि:शब्दता और धार्मिक मन	शनिवार 3 मई	बुधवार 7 मई 2003
3. Education & significance of life	शनिवार 26 जुलाई	बुधवार 30 जुलाई 2003
4. ध्यान	शनिवार 6 सितम्बर	बुधवार 10 सितम्बर 2003

कार्यशालाओं में भाग लेने के लिए संपर्क करें—

कृष्णमूर्ति सेंटर,

कृष्णमूर्ति फ़ाउंडेशन इंडिया, राजघाट फ़ोर्ट, वाराणसी-221001

फोन : 0542-2430289 ई-मेल : kcentrevns@satyam.net.in

नन्दिनी मेहता

(1917-2002)

विगत 7 जुलाई 2002 को श्रीमती नन्दिनी मेहता का देहावसान मुंबई स्थित उनके आवास पर हो गया। वे कृष्णमूर्ति तथा उनकी शिक्षाओं से आजीवन जुड़ी रहीं। कृष्णमूर्ति के साथ उनके अनेक वार्तालाप हुए। कृष्णमूर्ति के आह्वान पर ही उन्होंने मुंबई की झुग्गी-झोपड़ियों के बच्चों लिए 'बाल आनन्द' की स्थापना की जहाँ बच्चों की आन्तरिक प्रतिभा को विकसित करने का अभिनव प्रयोग प्रारंभ हुआ । इन महनीय प्रयासों के कारण ही शीघ्र ही इस विद्यालय की ख्याति फैलने लगी और यह कृष्णमूर्ति फ़ाउण्डेशन इण्डिया का अभिन्न अंग बन गया।

आवश्यकताएँ

कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंडिया, राजघाट शिक्षा संस्थान में श्री जे. कृष्णमूर्ति की शिक्षाओं में रुचि रखने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता है जो निम्नांकित उत्तरदायित्त्व ग्रहण कर सकें—

1. निदेशक रूरल सेंटर :

आवेदक में हमारे वर्तमान चिकित्सालय, पशुधन प्रक्षेत्र एवं कृषि फार्म के कार्यों को पर्याप्त गति प्रदान कर सकने की योग्यता होनी चाहिए। साथ ही आवेदक में ग्रामीणजनों के साथ मधुर सम्बन्ध बनाने तथा सम्बन्धों की समस्या के निराकरण की योग्यता भी आवश्यक है।

2. बर्सर :

आवेदक को केन्द्रिय प्रशासनिक कार्यालय के प्रमुख के रूप में कार्य करना होगा। आवेदक को ईमानदार, कार्यकुशल, मैत्रीपूर्ण तथा लचीली टीम बनाने में सक्षम होना चाहिए जो संस्थान की शैक्षणिक तथा आध्यात्मिक गतिविधियों को संबल प्रदान करे।

3. शिक्षक :

कृष्णमूर्ति की शिक्षा एवं जीवन-दृष्टि के प्रति गहन अभिरुचि रखने वाले ऐसे लोग जो संस्थान में महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सकें।

40 या 50 वर्ष आयु वर्ग के व्यक्ति जिन्हें अपने कार्यक्षेत्र का पर्याप्त अनुभव है उन्हें प्राथमिकता दी जाएगी। यह मैत्री एवं स्वतंत्रता का वातावरण सृजित करने का अवसर है। राजघाट तीन ओर से गंगा तथा वरुणा नदियों से घिरा हुआ है जो कि प्रकृति-प्रेमियों के लिए एक वरदान है। अनेक वर्षों तक श्री जे. कृष्णमूर्ति की उपस्थिति इस स्थान को विशिष्ट आभायुक्त बनाती रही है।

यदि आप इस केन्द्र से जुड़ना चाहते हैं तथा यहाँ संभावनाओं को देखना चाहते हैं तो कृपया लिखें—

रेक्टर, राजघाट शिक्षा संस्थान, राजघाट फोर्ट, वाराणसी-221001 या
ई-मेल करें— kfivns@satyam.net.in

क्या आप राजघाट के साथ मैत्री करना चाहते हैं ?

गंगा-वरुणा नदियों के संगम तट पर प्राचीन काशी के सुरम्य राजघाट क्षेत्र में कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया का राजघाट शिक्षण संस्थान स्थित है। आज से लगभग सत्तर वर्ष पूर्व विश्व के महान दार्शनिक एवं शिक्षक श्री जे. कृष्णमूर्ति की हार्दिक इच्छानुसार काशी के गंगा तट पर एक शैक्षिक केन्द्र की स्थापना हेतु एक विशाल भूखंड प्राप्त किया गया था। लगभग साढ़े तीन सौ एकड़ में फैले उसी भूखंड पर राजघाट शिक्षण संस्थान अपनी विभिन्न इकाइयों के माध्यम से शिक्षा एवं सत्यान्वेषण के गहनतर प्रयासों में पिछले कई दशकों से संलग्न है। संस्थान के अन्तर्गत निम्न इकाइयाँ परस्पर मिलकर इस दिशा में कार्य कर रही हैं: राजघाट बेसेंट स्कूल, वसन्त महिला महाविद्यालय, रूरल सेंटर (जिसमें ग्रामीण परिवेश के लगभग 400 बच्चों का विद्यालय और एक अस्पताल शामिल है), और कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर।

यदि आप राजघाट शिक्षण संस्थान के गहनतर प्रयासों में सक्रिय योगदान देना चाहते हैं और उसके साथ एक मैत्री संबंध स्थापित करना चाहते हैं तो आप अपने बारे में संक्षिप्त जानकारी देते हुए हमें इस पते पर लिखें:

कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर, कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया,
राजघाट फोर्ट, वाराणसी-221001 (उत्तर प्रदेश)

फोन : (0542) 2430289 ई-मेल : kcentrevns@satyam.net.in

राजघाट को आप निम्न रूपों में अपना सहयोग प्रदान कर सकते हैं—

- आर्थिक मदद द्वारा*
- क्षेत्र-विशेष में अपनी कार्यक्षमता द्वारा
- कृष्णमूर्ति साहित्य के वितरण द्वारा
- अन्य

*सभी अनुदान चेक/ड्राफ्ट द्वारा '**के. एफ. आई.' स्टडी सेंटर, वाराणसी**' के नाम देय होने चाहिए। अनुदान में दी गई धनराशि पर आयकर अधिनियम 80 (G) के अन्तर्गत 50% छूट का प्रावधान है।

हिन्दी में उपलब्ध कृष्णमूर्ति साहित्य

1.	ज्ञात से मुक्ति (Freedom from the Known)	रु.	70.00
2.	ध्यान (Meditations)	रु.	40.00
3.	हिसा से परे (Beyond Violence)	रु.	90.00
4.	गरुड़ की उड़ान (The Flight of the Eagle)	रु.	50.00
5.	संस्कृति का प्रश्न (This Matter of Culture)	रु.	50.00
6.	शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य (Education and the Significance of Life)	रु.	60.00
7.	शिक्षा संवाद (Krishnamurti on Education)	रु.	75.00
8.	स्कूलों को पत्र (Letters to the Schools I)	रु.	60.00
9.	स्कूलों के नाम पत्र, भाग-2 (Letters to the Schools II)	रु.	40.00
10.	सीखने की कला (On Learning)	रु.	15.00
11.	आन्तरिक प्रस्फुटन (Inward Flowering)	रु.	10.00
12.	आमूल क्रान्ति की आवश्यकता (Urgency of Change)	रु.	60.00
13.	सुखी वही जो कुछ नहीं है (Happy is the Man who is Nothing)	रु.	20.00
14.	जीवन भाष्य : 1 (Commentaries on Living – I)	रु.	60.00
15.	जीवन भाष्य : 2 (Commentaries on Living – II)	रु.	70.00
16.	जीवन भाष्य : 3 (Commentaries on Living –III)	रु.	80.00
17.	विज्ञान और सृजनशीलता (Krishnamurti at Los Alamos)	रु.	10.00
18.	जीवन की पुस्तक (The Book of Life)	रु.	10.00
19.	परम्परा जिसने अपनी आत्मा खो दी है (Tradition which has Lost its Soul)	रु.	5.00
20.	प्रेम: स्वयं से एक संलाप (Dialogue with oneself)	रु.	10.00
21.	वाशिंगटन वार्ताएँ (Washington D.C. Talks, 1985)	रु.	25.00
22.	सत्य एक पथहीन भूमि है (Truth is a Pathless Land)	रु.	10.00
23.	स्वतंत्रता, उत्तरदायित्व एवं अनुशासन (Freedom, Responsibility & Discipline)	रु.	10.00
24.	अन्तिम वार्ताएँ (The Last Talks)	रु.	70.00
25.	ध्यान में मन (Mind in Meditation)	रु.	10.00
26.	युद्ध और शांति	रु.	10.00
27.	परिसंवाद (त्रैमासिक) प्रति अंक	रु.	10.00

जे० कृष्णमूर्ति प्रज्ञा परिषद्, कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी-221001 की ओर से राजेश दलाल द्वारा सितम्बर-दिसम्बर 2002 में प्रकाशित संयुक्तांक। सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस, पाण्डेयपुर, सारनाथ रोड, वाराणसी-2 द्वारा मुद्रित।

सम्पादक : कृष्णनाथ *सह सम्पादक : मुकेश*

...मैं मरने जा रहा हूँ, यह निश्चित है। और कहता हूँ, भगवान के लिए एक मिनट रुकें। लेकिन यदि मैं इस तथ्य का अनुभव करता हूँ कि संपूर्ण समय इसी क्षण में निहित है तो इसका अर्थ है कि मृत्यु और जीवन साथ-साथ हैं, ये कभी अलग नहीं हैं...

जे. कृष्णमूर्ति